विकृत चिन्तन : रोग-शोक का मूलभूत कारण

लेखक

ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

२००५

मूल्य : ६-००

भूमिका

महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि कोई व्यक्ति कितनी लम्बी जिन्दगी जीता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसका जीवन कितना सार्थक और सोद्देश्य है। साधन-सुविधा-सम्पन्न लम्बा जीवन भी एक दुर्वह भार बन जाता है। यदि उसके साथ आदर्श और सिद्धान्त न जुड़े हों तो और अब तो यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि व्यक्ति अपने जीवन की व्यर्थता से इतना ऊब भी सकता है कि किसी भी क्षण आत्महत्या का निश्चय कर बैठे। गौरव और गरिमा तो इस बात में है कि व्यक्ति उच्च मानवी आदर्शों, उत्कृष्ट आस्थाओं तथा आदर्शवादी मान्यताओं को अपनाते हुए आत्मा की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहे। तभी जीवन का आनन्द है और जीने में संतोष है। अन्यथा उद्देश्य को भूलकर की गयी यात्रा का अन्त कहाँ होगा, यात्री उसमें अपने आपको कहाँ नष्ट कर लेगा अथवा कब अपनी यात्रा को व्यर्थ समझकर खीझ उठेगा; कहना कठिन है।

आकांक्षाओं को विकृत न होने दें

असंतोष मानसिक दरिद्रता का चिह्न है। यह एक ऐसा मानसिक संताप है जो मनुष्य को निरंतर गीली लकड़ी की तरह कष्ट के साथ जलाया करता है। इसकी उत्पत्ति अभाव की भावना से होती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने को अन्यों की तुलना में दीन-हीन समझता रहता है। ईर्ष्या एवं हीनता के भाव इसी कारण पैदा होते हैं।

असंतुष्ट व्यक्ति से प्रसन्नता दूर चली जाती है तथा खिन्न रहना उसका स्वभाव बन जाता है। वह हर क्षण अपने अंदर रोष, क्षोभ तथा तनाव का अनुभव करता तथा हर प्रकार के शोक-संताप को आमन्त्रित करता है। खिन्नता असंतुष्ट मन की अभिव्यक्ति है। असंतोष से सिवाय कुढ़ने, कुंठा, विषाद के कुछ हाथ नहीं लगता है। आशा, उत्साह एवं काम करने की क्षमता उससे नष्ट होने लगती है। मन ही मन कुढ़ते रहने से कोई काम करने को—जी नहीं चाहता और यदि कोई काम जैसे-तैसे किया भी जाता है तो मनोयोग के अभाव में कार्य में वह कुशलता नहीं आ पाती जिसको देखकर संतुष्ट हुआ जा सके। जीवन को सरल एवं सफल बनाने के लिए असंतोषरूपी मानसिक व्याधि का परित्याग बहुत आवश्यक है।

आज के भौतिक संघर्षपूर्ण जीवन में असंतोषरूपी व्याधि छूत के समान बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि के अनेक कारण हैं जिनमें प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति प्रमुख है। स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना मनुष्य को आगे बढ़ने में सहायक होती है एवं निरन्तर प्रेरणा देती है। आगे बढ़ने की आकांक्षा से प्रेरित हो व्यक्ति जी-जान से जुट जाता है तथा किसी से पीछे न रहने का हर संभव प्रयास करता है।

किन्तु यह गुण तब दोष बन जाता है जब अनावश्यक प्रतियोगिता की स्पर्धा पाल ली जाती है। जिन वस्तुओं की न तो

जीवन में आवश्यकता है और न ही उपयोगिता, ऐसी आकांक्षाओं से अशांति के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता। आज अधिकांश व्यक्ति इसी प्रकार के अनावश्यक फैशन, प्रदर्शन, विलास की वस्तुओं तथा खर्चीले जीवन की स्पर्धा में लगे हैं।

प्रतिस्पर्धा की इस भावना का सदुपयोग जीवन के क्षेत्र में मितव्ययिता, सादगी, सज्जनता, परोपकार जैसे सद्‌गुणों के समावेश करने में हो तो सुख, शांति का कहीं अभाव नहीं दिखाई देगा। महापुरुषों ने 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धांत का प्रतिपादन इसी दृष्टि से किया है। इस प्रकार के जीवन-दर्शन को अपनाने वाला कभी असंतोष से दूषित नहीं होता।

आकांक्षाओं के महत्त्व से कभी इनकार नहीं किया जा सकता है। प्रगति के लिए यह आवश्यक भी है किन्तु उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है। यदि मनुष्य के हृदय में आकांक्षाओं का उदय होना समाप्त हो जाय तो विकासशीलता का भाव अस्त हो जाएगा। आज संसार का जो विकसित स्वरूप दिखाई पड़ रहा है, वह बहुत-से व्यक्तियों की आकांक्षाओं का ही प्रतिफल है। वैज्ञानिक, कवि, कलाकार, शिल्पी, साहित्यकार की आकांक्षाओं के फलस्वरूप ही संसार में साहित्य, अनुसंधान, सृजन एवं सौन्दर्य दिखलाई देता है।

विकासशीलता का वर्तमान स्वरूप जो विश्व में दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें मनुष्यों की स्वस्थ आकांक्षाएँ ही फलीभूत हुई हैं चाहे वह विज्ञान, कला, अर्थ, राजनीति के क्षेत्र में हो अथवा धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में। अस्तित्वमय जगत, सृजनेच्छा की ही अभिव्यक्ति है। आकांक्षा के अभाव में सृजन एवं प्रकाश असंभव है।

श्रेष्ठ आकांक्षाएँ जहाँ मनुष्य को महान बनाकर उसके जीवन में सुख-संतोष का समावेश करती हैं, वहीं निकृष्ट एवं विकृत आकांक्षाएँ उसे दुःख, दरिद्रय, अशांति के नरक में ढकेल देती हैं। एक सुख-शांति का जीवन में समावेश करती हुई समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होती है तथा वहीं दूसरी अशांति, क्लेशादि में जीवन के दिन पूरा करती है। शान-शौकत, व्यसन,

विलास, बहुत प्रदर्शन, अपव्यय आदि की दूषित आकांक्षाएँ निकृष्ट एवं हेय मानी गई हैं। जिनसे समाज एवं संसार का हित सम्पादित होता है उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है।

श्रेष्ठ आकांक्षाओं से प्रेरित व्यक्ति अपने जीवन में उन चीजों को स्थान नहीं देते जिनसे समाज का अहित होता हो। उनका सारा समय, श्रम श्रेष्ठता के अभिवर्धन में लगा रहता है। वे अपनी क्षमता एवं शक्ति का दुरुपयोग इन्द्रियों की भोग-लिप्सा की पूर्ति के लिए नहीं करते। वे अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का उपयोग श्रेष्ठता की ओर बढ़ने में करते हैं।

महत्त्वाकांक्षाओं का लक्ष्य यदि आदर्शवादी वरिष्ठता को रखा जा सके तो ही उभयपक्षीय प्रयोजन पूरे होते हैं। आरम्भ से ही आत्म-संतोष मिलने लगता है। इस प्रयास में सत्प्रवृत्तियाँ उभरती और उपयोगी आदतें परिपक्व होती हैं। व्यक्तित्व का परिष्कार इस मार्ग पर चलने वालों को दैवी वरदान की तरह मिलता है। जिसकी कीमत पर जो महत्त्वपूर्ण है, ऐसा कुछ भी आसानी से खरीदा जा सके। आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा अपने लिए जितनी लाभदायक होती है, उससे अधिक जन साधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। महामानवों को अनिवार्यतः लोकसेवा में प्रवृत्त होना होता है अतएव उनके प्रयास परिश्रम से अनेकों का भला होना और बदले में सहयोग भरा श्रद्धा-सद्भाव मिलना स्वाभाविक है। भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ पानी के बबूले की तरह अपना चमत्कार दिखलातीं और थोड़ी-सी स्वार्थ-सिद्धि का जायका चखाती, विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं, जबकि आदर्शवादिता समुद्र में खड़े प्रकाश-स्तम्भों की तरह अपना गर्वोन्नत मस्तक उठाये खड़ी रहती है। उस ऊँचाई और रोशनी से नाविक अपनी प्राण-रक्षा करते और दर्शक सराहते हुए उधर से निकलते हैं।

महत्त्वाकांक्षाएँ श्रेयस्कर भी हैं और हेय भी। यदि वे क्षुद्र प्रयोजनों में लगें तो हेय और यदि सत्प्रयोजनों की दिशा में चल पड़ें तो समझना चाहिए कि उनसे अधिक या श्रेष्ठ उपलब्धि और कोई नहीं हो सकती।

कथा सरित्सागर में एक रोचक कथा आती है—'चांडाल कुल में जन्मी एक कन्या को अपने कुलवंश से घृणा हो गई। युवावस्था में प्रवेश करते ही उसने निश्चय किया कि वह सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से विवाह करेगी, अन्यथा कौमार्य व्रत निभायेगी। इस महत्त्वाकांक्षा से अभिप्रेरित होकर वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की खोज में निकल पड़ी। एक नगर में उसने एक बड़ा जुलूस जाते देखा। स्वर्ण अलंकारों से सुसज्जित हाथी पर राजा बैठा था। पीछे-पीछे हजारों की संख्या में सैनिक पैदल एवं घोड़े पर सवार राजा का अनुगमन कर रहे थे। कुछ युवतियाँ चँवर ढुला रही थीं। यह सोचकर कि सबसे बड़ा व्यक्ति यही हो सकता है, कन्या प्रफुल्लित हो उठी और पीछे-पीछे चल पड़ी। राजा से विवाह करने का उसने निर्णय लिया। मार्ग में एक संन्यासी गुजरा। राजा की दृष्टि जैसे ही संन्यासी पर पड़ी वह हाथी से उतर पड़ा और उसके चरणों में नमन किया। कन्या सोचने लगी कि राजा से बड़ा तो संन्यासी है। मुझे विवाह संन्यासी से करना चाहिए। राजा को छोड़कर वह संन्यासी के पीछे चलने लगी। आबादी से दूर जंगल में स्थित संन्यासी एक मन्दिर में पहुँचा। देवमूर्ति को प्रणाम करके वह ध्यानस्थ हो गया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी वह अपने निर्णय पर पश्चात्ताप करने लगी। मूर्ति को बड़ा जानकर उससे विवाह की आकांक्षा लिए वह वहीं बैठ गई। कुछ समय बाद मन्दिर में एक कुत्ता आया, अपनी सहज प्रकृति के अनुसार उसने मूर्ति के ऊपर ही मूत्र त्याग किया। महत्त्वाकांक्षी कन्या पुनः पश्चाताप करने लगी। कुत्ता जैसे ही मन्दिर से निकला, विवाह के योग्य वांछित पात्र जानकर वह उसके पीछे चल पड़ी। चलते-चलते कुत्ता एक चांडाल बस्ती में जा पहुँचा और एक झोंपड़ी के समक्ष जाकर भौंकने लगा। आवाज सुनकर एक युवक बाहर निकला। कुत्ते ने युवक को जैसे ही देखा उसके पैरों में लौटकर पाँव को चाटने लगा। अपनी ही बस्ती और अपनी ही बिरादरी में उपयुक्त और श्रेष्ठ विवाह योग्य पुरुष को देखकर वह अपने आपको धिक्कारती रही। युवक के समक्ष कन्या ने विवाह का प्रस्ताव रखा। सुशील एवं रूपवती जानकर

उसने विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और दोनों गृहस्थ जीवन के बन्धन में बँध गये।

कथा सामान्य होते हुए भी असामान्य प्रेरणा देती तथा मानवी प्रवृत्ति का बोध कराती है। उद्धत भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ मनुष्य को इसी प्रकार परेशान करती हैं। बड़ा बनने—बड़प्पन पाने की इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य अपने सहज क्रम और उपलब्ध परिस्थितियों को छोड़कर जीवन-पर्यन्त बन्दरों के समान उछल-कूद करता—मचक-मचक करता रहता है। "दूर के ढोल सुहावने" जैसी मनोवृत्ति के कारण उपयुक्त-अनुपयुक्त, भले-बुरे के बीच अन्तर करते नहीं बनता। वर्तमान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और उपलब्ध परिस्थितियाँ स्वयं विकास के लिए सर्वोत्तम साधन हैं। इस तथ्य से अवगत न होने के कारण ही भटकाव बना रहता है जो है इससे लाभ उठाने की नीति अपनाकर उपलब्धियों का सदुपयोग करते नहीं बनता और जो नहीं है उसे प्राप्त करने की आकांक्षा मन में बनी रहती है, फलतः मनुष्य सदा असंतुष्ट तथा अशांत ही बना रहता है।

विश्लेषण करने पर पता चलता है कि महत्त्वाकांक्षा का तो कोई ओर-छोर नहीं। उनकी न कोई सीमा है न मर्यादा, अतएव उनकी आपूर्ति भी असंभव है। बलवान बनने, बुद्धिमान होने, संपत्ति एकत्रित करने, श्रेय-सम्मान पाने जैसी कितनी ही इच्छाएँ ऐसी हैं जिनका कहीं अंत नहीं है। मनुष्य कितना ही प्रयत्न क्यों न करे और शेर और हाथी जैसा शक्तिशाली नहीं बन सकता।

एक महत्त्वाकांक्षा किसी प्रकार पूरी भी हो जाय तो भी इतने मात्र से संतुष्टि नहीं मिल जाती। एक के पूरी होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। बुद्धिमान में धनवान बनने, धनवान में प्रतिष्ठा पाने, बलवान में धन संग्रह करने की इच्छा देखी जाती है। यह इस बात का परिचायक है कि भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं का अंत नहीं और न ही उनकी आपूर्ति संभव है। पूर्ति का अभाव असंतोष एवं अशांति को जन्म देता है। फलतः अनेकानेक प्रकार के सामाजिक विग्रह प्रतिस्पर्धास्वरूप खड़े होते हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि धनवान, बुद्धिमान, बलवान बनने की आकांक्षा अनुचित है। पर बात ऐसी नहीं है। जो आकांक्षाएँ व्यक्तिगत स्वार्थ से अभिप्रेरित होती हैं, वे बुरी हैं। संकीर्णता की परिधि से बाहर निकलकर स्वार्थपरता के धरातल से ऊपर उठकर जब वे परमार्थ का, लोक-कल्याण का माध्यम बन जाती हैं तो उनकी सराहना की जाती है। मूलतः न तो धन का संग्रह बुरा है, न ही ज्ञान का अर्जन। शक्ति सामर्थ्य भी अपने में महत्त्वपूर्ण है, पर जब इनका लक्ष्य उद्धत प्रदर्शन और अपने अहंकार को पोषण देना होता है तो ये भर्त्सना के पात्र बनते हैं। आलोचना उस मनोवृत्ति की होती है, जो मनुष्य को नीति-अनीति कुछ भी अपनाने को बाध्य करती है।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अहंकारी होता है, साथ ही निष्ठुर भी। अपनी भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए वह कुछ भी कर सकता है। इतिहास के पन्ने इसकी गवाही देते हैं। हिटलर, मुसोलिनी, नैपोलियन, सिकन्दर—इनकी विश्व-विजय की महत्त्कांक्षा ने कितना नरसंहार किया यह सभी जानते हैं। युद्धों के इतिहास इनकी ही परिणति हैं। अधिकांश संघर्षों का कारण ये महत्त्वाकांक्षाएँ ही होती हैं जो प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष को जन्म देती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में उनकी प्रधान भूमिका होती है।

अतएव इनसे अपने को बचाए रखना आवश्यक है। ज्ञानार्जन के लिए प्रयत्न किये जाएँ पर उनका उद्देश्य व्यक्तिगत अहंता को परिपोषण देना अथवा उद्धत प्रदर्शन न होकर समाज को लाभान्वित करना हो।

शक्ति-सम्पन्न बनना भी अच्छा है, पर दूसरों को खाने, गिराने और अपना स्वार्थ साधने जैसी मनोवृत्ति उसमें न हो, अर्जित सामर्थ्य से दूसरों को सहयोग पहुँचाना हो। यही बात धन संग्रह के सन्दर्भ में भी लागू होती है। ईमानदारी और श्रमपूर्वक धन कमाया जाय, संग्रह किया जाय। पर उस संग्रह का लक्ष्य स्वयं उपभोग तक सीमित न रहे। अन्यों को भी इसका लाभ

मिलना चाहिए। महान बनने—बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान का उदाहरण प्रस्तुत करने जैसी आकांक्षा उठे तो ही वह महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति एवं समाज के कल्याण का कारण बनती है।

मनुष्येत्तर जीव अपनी मूल प्रवृत्तियों के अनुरूप आचरण करते तथा प्रकृति प्रेरणा से गतिशील रहते हैं। मनुष्य की स्थिति उनसे भिन्न है। इच्छा, आकांक्षा और विचारणा की ऐसी सामर्थ्य उसे मिली है जिसका उपयोग करके वह जैसा चाहे बन सकता है। वह देवता बन सकता है और दानव भी। यह पूर्णतया उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर करता है। कुछ व्यक्ति प्रचलित लोक-प्रवाह की पतनोन्मुखी धारा को चीरते हुए अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करते, ऊँचे उठते और सामान्य से असामान्य महामानवों की श्रेणी में जा पहुँचते हैं। जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस प्रवाह में बहते हुए नरपिशाचों की श्रेणी में जा पहुँचते हैं। एक उन्हीं परिस्थितियों में देवमानव बन जाता है जबकि दूसरा नर-पशु नर-पिशाच। इतना अधिक अन्तर क्यों ? इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं तो एक ही तथ्य हाथ लगता है कि एक अपनी इच्छा-आकांक्षा को परिष्कृत-परिमार्जित करता रहा, आचरण को पवित्र, सद्‌भाव-सम्पन्न बनाता रहा, पशुवत् प्रवृत्तियों को बलात नियन्त्रित किया। फलतः क्रमशः ऊँचे उठते हुए महामानव देवमानव की श्रेणी में जा पहुँचा। दूसरे ने अपनी निम्नगामी प्रवृत्तियों को निरंकुश रखा। उन्हें क्रीड़ा करने की खुली छूट दे दी। निष्ठुरता-उच्छृंखलता इस सीमा तक बढ़ी कि उन्होंने उसकी अन्तः संवेदनाओं को रौंद डाला, भाव-संवेदनाओं के अभाव में आकांक्षाएँ विकृत होती चली गईं। विकृत महत्त्वाकांक्षाओं की परितृप्ति के लिए वह ऐसा कुकृत्य करने लगा जो हिंस्र-पशुओं को ही शोभा देता है।

इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे नर-पिशाचों का नाम भी काले अक्षरों में अंकित है जिनके कारनामों को पढ़कर आज भी मन घृणा से भर उठता है और सहज ही उनके प्रति आक्रोश उभरता है। हंगरी के 'सीस्वेस्टर मटुस्का' का नाम ऐसे नर-पामरों में आता है जो एक प्रख्यात कम्पनी का मालिक था। धन की

कमी नहीं थी। उसे दूसरों को पीड़ा से मरते देखकर आनन्द आता था।' 'अण्डरस्टैडिंग ह्यूमन बिहैवियर' में उल्लेखित घटना के अनुसार वह लोगों की हत्या करने के लिए अकेले ही ताना-बाना बुनता, कुचक्र रचता रहता था। उसे रेल दुर्घटनाएँ कराने तथा उससे मरते हुए व्यक्तियों को देखकर अत्यन्त हर्ष होता था। अपने जीवनकाल में उसने सैकड़ों दुर्घटनाएँ करायीं तथा हजारों व्यक्तियों को अकाल मृत्यु की गोद में पहुँचाया। अन्ततः एक दुर्घटना के बाद वह पकड़ा गया। हजारों व्यक्तियों की हत्या का उस पर अभियोग था। न्यायालय के समक्ष पूछे जाने पर कि वह ऐसा जघन्य अपराध क्यों करता है, उसने स्पष्ट उत्तर दिया कि उसे तड़पते हुए मरते लोगों को देखकर विशेष प्रसन्नता होती थी। मनःशास्त्रियों ने उसका अध्ययन करने पर उसे विक्षिप्त घोषित किया पर न्यायालय ने उसके अन्य सभी कार्यों को असामान्य देखते हुए अपराधी घोषित किया। उसे अन्त में फाँसी पर लटका दिया गया।

नेसेच्युसेट में जन्मा 'कुर्टेन' नामक अपराधी का बचपन ही गंभीर अपराधों से शुरू हुआ। अपराधों की एक संस्था से उसका संपर्क दस वर्ष की आयु से ही हो गया। अपराधी दल के सरदार द्वारा उसकी परीक्षा एक छोटे जीवित बच्चे को नदी में बहा देने के रूप में की गई। जैसे ही उसने बच्चे को नदी की धारा में फेंका एक दूसरा लड़का उसे बचाने के लिए पानी में कूदा पर 'कुर्टेन' ने उसे भी डुबाकर मार डाला। इस घटना के साथ उसके अपराधी जीवन की शुरूआत हुई।

समीपवर्ती क्षेत्रों में उसका आतंक दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। बिना किसी कारण निरपराध लोगों-बच्चों की हत्या करना उसका प्रिय शौक बन गया। अवसर देख—वह छोटे बच्चों को तेज हथियार से मार डालता था। उनके रक्त को पीता तथा तड़पते हुए बच्चों को देखकर नाचने लगता। उत्पीड़न के लिए मनुष्य का शिकार न मिलने पर वह अपनी पाशविकता की तृप्ति के लिए भेड़-बकरियों, कुत्ते-बिल्लियों को मारता था। जितना ही अधिक खून निकलता था उतनी ही उसको प्रसन्नता होती थी।

उसके कुकृत्य एक क्रूर महिला का सहयोग पाकर और भी अधिक वीभत्स हो चले। बीस वर्षों तक वह बच्चों एवं प्राणियों का अंग उच्छेदन तथा कत्ल करता रहा। ये सारे कार्य गुप्त रूप से चलते रहे। बढ़ती हुई इस तरह की घटनाओं को देखकर स्थानीय पुलिस को चिन्ता हुई। खोज-बीज करने पर वह रँगे हाथ एक बच्चे को मारकर खून पीते पकड़ा गया। पुलिस के समक्ष उसने अपने सारे गुनाह स्वीकार किये तथा बताया कि वह हत्या इसलिए करता था कि किसी भी जीव का शरीर रक्तरंजित देखकर उसे बेहद खुशी होती थी। न्यायालय ने उसे मृत्युदण्ड देते हुए कहा कि "कुर्टेन' के किये गये अपराधों के लिए दण्ड बहुत ही छोटा है पर दुःख है कि इससे बढ़कर कोई सजा कानून के अन्तर्गत नहीं है।"

नर-पिशाचों की श्रेणी में ऐसे भी शासक हुए हैं जिन्होंने पौराणिक काल के राक्षसों को भी मात दे दी। रोम का छटा सम्राट नीरो उन्हीं में से एक था। विरासत में निष्ठुरता के संस्कार उसे अपनी माँ से ही प्राप्त हुए थे। रोम की गद्‌दी हाथ लगते ही उन कुसंस्कारों को फलीभूत होने का अवसर मिल गया। निरपराध व्यक्तियों को तड़पा-तड़पाकर मारना उसकी हॉबी थी। अर्ध-विक्षिप्त उस शासक के आदेशों की अवहेलना का अर्थ होता था—अपनी मृत्यु को स्वयं आमन्त्रित करना। राज्य के सभी कर्मचारी कभी भी उसके उचित-अनुचित निर्देशों की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर पाते थे।

उसकी महत्त्वाकांक्षा कितनी अधिक विकृत और अमानवीय थी, उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि रोम की गद्‌दी पर पाँच वर्ष शासन करने के बाद उसे यह सन्देह हो गया कि अब वह अधिक समय तक जीवित रहने वाला नहीं है। वह चाहता था कि उसके बाद अन्य कोई गद्‌दी पर न बैठने पाए। मृत्यु के पूर्व ही राज्य की प्रत्येक वस्तु का विनाश हो जाय। इस इच्छा की आपूर्ति के लिए उसने एक दिन अपने विश्वासपात्र अधिकारियों को समूचे रोम को जला देने का आदेश दिया। उन्होंने आदेश का पालन करते हुए पूरे रोम नगर

में आग लगा दी। लाखों निरपराध नर-नारी, बाल-वृद्ध उस अग्नि की ज्वाला में जल मरे। जिस समय रोम शहर जल रहा था। 'नीरो' शहर की सबसे ऊँची मीनार पर चढ़कर सारा दृश्य देखकर अट्टहास कर रहा था। नौ दिनों तक यह भयंकर अग्निकाण्ड का नृशंस कृत्य चलता रहा, जिसमें अथाह सम्पत्ति नष्ट हुई और असंख्यों बेगुनाहों को मरना पड़ा।

सुविख्यात शासक ड्राम्यूला को मरी लाशों को देखने का इतना अधिक शौक था कि लोगों को मारने के बाद वह अपने दरबार में ही उल्टे टँगवा देता था। उनसे भयंकर बदबू आती थी। एक बार एक मन्त्री ने कहा कि इन लाशों से दुर्गन्ध आती है। ड्राम्यूला ने क्रूर अट्टहास करते हुए अपने सेनापति को आदेश दिया कि मन्त्री को इन टँगी लाशों के साथ ही थोड़ी ऊँचाई पर टाँग दिया जाय। आदेश का तुरन्त पालन हुआ। अन्ततः राज्य क्रान्ति में ड्राम्यूला को भी जनता ने उसी क्रूरता के साथ मार डाला।

● ●

समस्त विग्रहों की जड़ अहंकार

संसार में जितने भी द्वन्द्व, संघर्ष, विग्रह और युद्ध हुए हैं उनके कारणों का यदि अध्ययन किया जाय तो वे अनेक नहीं होंगे। दो व्यक्तियों की आपसी लड़ाई और दो राष्ट्रों के युद्ध दिखाई पड़ने में अलग-अलग होंगे परन्तु उनका कारण एक ही होगा और वह कारण है एक-दूसरे पर आधिपत्य जमाना। दूसरे शब्दों में अपने आपको प्रतिद्वन्द्वी से बड़ा शक्तिशाली सिद्ध करना। पिछले विश्वयुद्ध में लाखों व्यक्ति मारे गये और उनसे भी अधिक हताहत हुए। इस भीषण नरसंहार का कारण एक व्यक्ति का यह मानना था कि उसकी जाति सर्वश्रेष्ठ है और वह उस सर्वश्रेष्ठ जाति का सर्वोच्च नेता है। इसलिए वह संसार का सबसे बड़ा शक्तिशाली, सर्वश्रेष्ठ और सबसे महान व्यक्ति है।

दो व्यक्तियों की लड़ाई में भी यही कारण होता है। एक किसी कारण से अपने आपको दूसरे से बड़ा, शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझता है तथा उससे यह मनवाना चाहता है, जबकि दूसरा व्यक्ति उसकी इस बात को स्वीकार कर अपने आपको छोटा नहीं मानना चाहता। लड़ाई के प्रत्यक्ष कारण चाहे जो भी रहें पर मूलतः संघर्ष दो व्यक्तियों के अहंकार का टकराव ही होता है। इस अहंकार ने मनुष्य जाति का जितना अहित किया है, उतना दूसरे किसी कारण से अहित नहीं हुआ है। न भूख से, न बीमारी से, न बाढ़ से, न सूखे और न रोग से तथा न दुर्बलता से, किसी भी कारण इतने लोग नहीं मरे हैं जितने कि आपसी संघर्षों, जातीय युद्धों और दो राष्ट्रों के या अनेक देशों के संग्राम से मरे हैं। इन संघर्षों, द्वन्द्वों और युद्धों का एकमात्र कारण अपनी श्रेष्ठता का दावा तथा दूसरों द्वारा उस दावे को दी गयी चुनौती ही है।

अहंकार के कारण न केवल मनुष्य जाति हिंसा तथा विनाश की शिकार हुई है बल्कि उसके कारण मनुष्य का नैतिक पतन भी हुआ है। स्वार्थ, संकीर्णता, अनुदारता, लोभ, परस्वत्वापहरण जैसे दुर्गुणों का एकमात्र जनक भी अहंकार ही है। लोभ, मोह, अनीति और अनाचार को अहंकार की ही सन्तान कहा जा सकता है। चूँकि यह दुर्गुण मनुष्य के अन्तःकरण में निवास करता है अतः इसकी प्रतिध्वनि समाज क्षेत्र में होना भी स्वाभाविक ही है और इसी कारण साम्प्रदायिक तनावों से लेकर दो राष्ट्रों के युद्ध तक मनुष्य का यह दुर्गुण ही कारण बनता है।

प्रसिद्ध विचारक क्लाइव लीविस ने लिखा है कि "अहंकार की तुष्टि किसी चीज को पाने से नहीं बल्कि उस चीज को किसी दूसरे की अपेक्षा ज्यादा पाने से होती है।" वस्तुतः अहंकार का अर्थ ही अपने को दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का दावा है। इसी कारण लोग लोभ करते हैं ताकि वे दूसरों से सम्पन्न दीखें, इसी कारण दूसरों को दबाने की चेष्टा करते हैं ताकि अपनी प्रभुता सिद्ध कर सकें तथा इसी कारण दूसरों को मूर्ख बनाना चाहते हैं ताकि स्वयं बुद्धिमान सिद्ध हो सकें। इसका

अर्थ यह नहीं है कि सम्पन्नता, शक्ति और बुद्धिमत्ता को अर्जित, विकसित नहीं करना चाहिए।

सम्पन्नता व्यक्ति की श्रमशीलता और पुरुषार्थ का पुरस्कार है। इसलिए वह सम्मानीय है परन्तु अहंकार उसे अपना लक्ष्य बना लेता है। सम्पन्न होना इसलिए भी आवश्यक है कि उसके बल पर जीवन-यापन का क्रम सुख-सुविधापूर्वक चलाया जा सके। यद्यपि आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की प्रेरणा तो यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ अनिवार्य स्तर तक ही सीमित रखे और उन्हें पूरा करने के बाद बचा समय व श्रम मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने में लगाये। फिर भी सुख-सुविधाओं के साधनों को एक सीमा तक छूट दी जा सकती है लेकिन उनकी आकांक्षा जब इस भावना से प्रेरित होकर बढ़ने लगती है कि हमें दूसरों की तुलना में सम्पन्न दिखाई देना है तो वह भावना लोभ के अन्तर्गत आ जाती है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।

लोभ की सीमा इसलिए नहीं है कि दस व्यक्तियों की तुलना में सम्पन्न होने के बाद व्यक्ति को दिखाई देने लगता है कि दूसरे सौ व्यक्ति उससे भी ज्यादा सम्पन्न हैं। उसको कसक उठता है और वह उन सौ व्यक्तियों से भी आगे निकल जाना चाहता है। इसके लिए वह जल्दी-जल्दी धन-सम्पदा बटोरने की चेष्टा करने लगता है और उसमें उचित-अनुचित का विवेक भूल जाता है क्योंकि उचित साधनों से अनुचित साध्य की प्राप्ति तो की नहीं जा सकती। पूजा की माला से किसी को फाँसी तो लगायी नहीं जा सकती और माना कि किसी प्रकार लगा भी दी गयी तो फिर वह पूजा की माला कहाँ रही वह तो फाँसी का फन्दा बन गयी। कोई व्यक्ति यदि चाहे कि ईमानदारी से दुनिया की सब धन-सम्पदा अपने कब्जे में कर ले तो यह सम्भव कैसे होगा ? इसके लिए तो अनैतिक उपायों का ही सहारा लेना पड़ेगा। वे उपाय चोरी, डकैती भी हो सकते हैं और तस्करी, मिलावटखोरी भी। इन व्यवसायों में भी किन्हीं सिद्धान्तों का पालन किया गया तो वे सिद्धान्त ईमानदारी की परिभाषा में कहाँ आये ?

यद्यपि दुनिया की समस्त धन-सम्पदा का मालिक स्वयं ही बन जाना असम्भव-सा ही है परन्तु अपने को संसार का सम्पन्नतम व्यक्ति होने का अहंकार सिद्ध करने के लिए मन में आकर्षण इसी लक्ष्य की ओर रहता है क्योंकि स्वयं को दूसरे सभी से सम्पन्न, श्रेष्ठ और शक्तिशाली सिद्ध करना है। यही बात शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली, प्रभुता-सम्पन्न और अन्य सभी की तुलना में बुद्धिमान, सुन्दर सिद्ध करने के सम्बन्ध में लागू होती है।

अहंकार सदैव दूसरों को मापदण्ड बनाकर चलता है। दूसरों से तुलना कर अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रवृत्ति का नाम ही अहंकार है। भले ही फिर कोई सिद्ध कर पाये, न कर पाये या सिद्ध करने की चेष्टा में लगा रहे। अपनी जिन मौलिक विशेषताओं पर गर्व किया जा सकता है वे अहंकार से भिन्न हैं क्योंकि अपने आप पर गर्व करना तथा उन विशेषताओं की दूसरों के साथ तुलना न करना व्यक्तियों में संतोष, शीलता और ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करता है। जबकि लोग अपनी उपलब्धियों को दूसरों से बढ़-चढ़कर बताते हैं तो उनमें अहंकार की भावना ही काम करती है। नैतिक और मानवीय मूल्यों से ऐसे व्यक्ति कभी भी गिर सकते हैं, क्योंकि उनमें ईर्ष्या, द्वेष और दूसरों से प्रतिस्पर्धा की भावना रहती है।

कहा गया है कि अहंकार ही प्रत्येक देश और घर में दुःखों का मूल कारण है। देश व समाज में तो नागरिकों के भीतर काम करने वाला अहंकार का भाव किस प्रकार अनर्थ उत्पन्न करता है; यह बताया ही जा चुका है। परिवार में भी अहंकार के कारण ही क्लेश-कलह और विग्रह का वातावरण बनता है। पति अपने को पत्नी से श्रेष्ठ समझता है इसलिए वह तरह-तरह से उस पर अपना प्रभुत्व जमाता है। पत्नी का स्वभाव यदि समझौतावादी हुआ तो वह पति के अहंकार को किसी प्रकार निबाह ले जायेगी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह पति के अहंकारपूर्ण दावे को पचा लेगी। उसकी प्रतिक्रिया का विस्फोट कभी भी हो सकता है और पत्नी भी यदि अपने

'अहं' के प्रति उतनी सजग आग्रहशील रही तो नित्य का क्लेश परिवार के वातावरण को नरक ही बना डालेगा।

दूसरे कई दुर्गुण ऐसे हो सकते हैं जो लोगों को समीप ला सकते हैं। जैसे कोई शराबी, शराबी के साथ मेल-जोल बढ़ा लेता है, चोर, चोर के साथ दोस्ती कर सकता है, दो आवारा व्यक्ति एक-दूसरे के मित्र हो सकते हैं। प्रायः देखने में भी आता है कि दो समान स्वभाव के दुर्गुणी व्यक्ति एक-दूसरे के अच्छे मित्र बन जाते हैं। परन्तु किन्हीं व्यक्तियों में सभी सद्‌गुण हों किन्तु उनमें अहंकार का एक ही दुर्गुण हो तो वे कभी एक-दूसरे के समीप नहीं जायेंगे। अधिकांश सद्‌गुणी व्यक्तियों में, जिनमें कोई दुर्गुण होता है तो उनमें पहला नम्बर अहंकार ही होता है। इसीलिए दुष्ट-दुर्जनों की अपेक्षा सज्जन प्रकृति के व्यक्ति ज्यादा असंगठित रहते हैं।

पुराणों में उल्लेख आता है कि देवता असुरों से जब-जब भी पराजित हुए तो उसका कारण उनका असंगठित होना ही रहा और देवासुर संग्राम में कई बार देवताओं को हारना पड़ा क्योंकि प्रत्येक देवता को अपनी शक्ति का अहंकार रहा और इसलिए वे आपस में तालमेल न बिठा सके। कहने का अर्थ यह है कि सारे सद्‌गुण होते हुए भी व्यक्ति में यदि अहंकार विद्यमान है तो वह उसके सद्‌गुणों की शक्ति को उसी प्रकार आवृत कर लेगा जिस प्रकार कि आँख में पड़ा हुआ तिनका सारे संसार को ढक लेता है। यों अहंकार का अस्तित्व तिनके से ज्यादा लगता भी नहीं है परन्तु वह मनुष्य को शेष संसार से अलग कर देता है। वह मनुष्य को मनुष्य का दुश्मन बना देता है।

यहाँ तक कि अहंकार के कारण मनुष्य अपनी मूल सत्ता से अलग-अलग कटा हुआ पड़ा है। वह सत्ता है—ईश्वर की सत्ता। तत्त्वतः जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश है। परन्तु जिस प्रकार एक छोटा-सा पात्र सागर के भीतर ही समुद्री जल के एक अंश को समुद्र से अलग कर देता है, उसी प्रकार मनुष्य का अपना अहंकार उसे ईश्वर से अलग और दूर कर देता है। इसीलिए

सभी ऋषि-महर्षियों और संत-महात्माओं ने 'अहं' की कारा से मुक्त होने को ही सच्ची मुक्ति कहा है। यहाँ तक कि अच्छा होने या धार्मिक बनने के कारण दूसरों से श्रेष्ठ होने का भाव भी मनुष्य को ईश्वर से दूर रखता है। महाभारत में इस प्रकार के कई प्रसंग आते हैं जब भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के अभिमान का मर्दन किया और उसे भगवत-प्राप्ति में सबसे बड़ा अवरोध बताया। इसी प्रकार रामायण में भी नारद के अभिमान का प्रसंग आता है और वे अनुभव करते हैं कि इस कारण भगवान से कितने विमुख होते जा रहे हैं। तुलसीदास ने अहंकार नष्ट हो जाने को ही सबसे बड़ी भगवत-कृपा कहते हुए रामचरितमानस में बताया है कि यही सब दुःखों की जड़ है—

संसृति मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना।।
तेहिं ते करिहिं कृपानिधि दूरी।
सेवक पर ममता अति सूरी।।

ईसामसीह ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा है—"अगर तुम ईश्वर के राज्य में प्रवेश करने की योग्यता रखते हो और इस कारण दूसरों से श्रेष्ठ हो तो यह भ्रम मन से निकाल दो कि तुम ईश्वरीय राज्य में प्रवेश पा जाओगे। सुई के छेद में से ऊँट का निकल जाना सम्भव हो जायेगा किन्तु तुम्हारा ईश्वरीय राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं होगा।"

अहंकार का आधार ही यह है कि हम अपने आपको महत्त्वपूर्ण मानते हैं और दूसरों से स्वयं को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए उनके अहंकार से टक्कर लेना चाहते हैं। महत्त्वपूर्ण होना एक अलग बात है और स्वयं को महत्त्वपूर्ण मानना तथा उसे सिद्ध करना सर्वथा दूसरी बात है। महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास ही इस बात का द्योतक है कि हम अपना मूल्यांकन वास्तविकता से बहुत अधिक करते हैं। विचार किया जाना चाहिए कि संसार में सबसे महत्त्वपूर्ण यदि कोई है तो वह ईश्वर है और ईश्वर की ऐसी कोई चेष्टा दिखाई नहीं देती जो वह अपने आपको महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए करता हो।

संसार की सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण सत्ता अपने आपको महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की ओर से उदासीन है तो क्या कारण है कि हम जैसे अरबों व्यक्तियों के होते हुए हम अपने आपको सबसे महत्त्वपूर्ण मानें और दूसरों से टक्कर लेते फिरें।

अपने अहंकार को पहचान लेने और उसे स्वीकार करने के साथ ही वस्तुस्थिति को समझ लेने मात्र से अहंकार तिरोहित हो जाता है। केवल पहचानने और स्वीकार करने मात्र से ही बात नहीं बनेगी। प्रकाश है और अन्धकार नष्ट हो गया है, यह जानने पर भी यदि आँखें बन्द रखी जायँ तो स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। आवश्यकता इस बात की है कि आँखें खोली जायँ। अहंकार को इसी तरह तात्त्विक दृष्टि से देखते ही उसका अभाव हो जायेगा और फिर चारों ओर सुख-शांति, सौहार्द्र और स्नेह के सत्य का आलोक हो उठेगा।

● ●

समस्त दु:खों का कारण विकृत चिन्तन

जीवन सर्वाधिक प्रिय वस्तु है। मनुष्य अपने आपसे और अपने जीवन से जितना प्यार करता है उतना शायद ही किसी और से करता हो। इसी सर्वाधिक परम प्रिय जीवन को सुखी, संतुष्ट और तृप्त रखने के लिए वह तरह-तरह के साधन जुटाता है। उचित-अनुचित सभी तरह के उपाय अपनाकर जीवन को खुशहाल बनाने की चेष्टा करता है और जीवन पर आ पड़ने वाले आकस्मिक खतरों से निपटने के लिए तो कभी-कभी इतना दुस्साहस भी कर बैठता है कि सामान्य स्थिति में रहते वह स्वयं उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था।

जिस समय जीवन पर संकट की संभावना बढ़ जाती है तो उस समय व्यक्ति में न जाने कहाँ से इतना बल आ जाता है कि वह अपनी स्थिति से भी अधिक सक्रियता बरतने लगता है। जंगल में शेर यदि पीछे भाग रहा हो और व्यक्ति उससे अपने

प्राण बचाने के लिए दौड़ने लगो हो तो इतना तेज दौड़ने लगता है कि किसी बड़ी दौड़ प्रतियोगिता में भी कोई व्यक्ति क्या भागता होगा ? अग्निकांड, बाढ़ें और प्राकृतिक प्रकोप के समय दुर्बल रोगी कमजोर व्यक्तियों का जीवन के लिए संघर्ष भी इतना प्रबल रहता है कि लाखों रुपये के पुरस्कार का आकर्षण भी उसे इतना साहसी नहीं बना सकता। यह जिजीविषा ही है कि व्यक्ति बुरी से बुरी परिस्थितियों और गंभीर से गंभीर खतरों में उलझ जाने के बाद भी उनमें से बच निकलने के लिए अन्त तक संघर्ष करता है।

इन सब बातों से भी सभी परिचित हैं और सभी कोई जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन से बेहद लगाव रहता है। जीवन परम प्रिय है—यह सच है; लेकिन यह भी सच है कि कई अवसर ऐसे आते हैं जब व्यक्ति अपने जीवन से ही घृणा करने लगता है और उसे समाप्त कर देने में क्षणभर की भी देर नहीं करता। आये दिनों होने वाली आत्म-हत्याओं की घटनाओं को देखते या उनके समाचारों को पढ़ते हुए हम इस बात का आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि जीवन को सबसे अधिक प्यार करने वाला मनुष्य क्या जीवन से इस प्रकार घृणा भी करने लगता है। दूसरे व्यक्तियों के द्वारा की गयी आत्म-हत्याओं के बारे में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए तुरन्त उन्हें कायर, बुजदिल और अकर्मण्य कह दिया जाता है। परन्तु अपने सम्बन्ध में प्रायः कोई नहीं कहता कि वह भी जीवन से उन्हीं लोगों की तरह घृणा कर रहा है। यह बात और है कि आत्म-हत्या का साहस नहीं जुटा पाते। अन्यथा जिस प्रकार जीवन हम जीते हैं उससे हमें जरा भी संतोष नहीं है और जीवन से बहुत प्रेम करते हुए उससे क्षुब्ध, असंतुष्ट तथा खिन्न रहते हैं।

अमेरिका के प्रख्यात मनोवैज्ञानिक डॉ. अर्नाल्ड जॉन का कथन है कि "अधिकांश व्यक्ति जाने-अनजाने प्रतिदिन आत्मविनाश की ओर बढ़ते रहते हैं और हम में से प्रत्येक व्यक्ति नित्यप्रति अपनी हत्या करता है। अधिकांश मामलों में यह

आत्महत्या अचेतन प्रक्रिया ही होती है और हमें इसका जरा भी पता नहीं चलता। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति ऊपरी मंजिल की खिड़की से नीचे झाँकता है तो उसे हलका-सा भय लगने लगता है। इस भय का कारण यह नहीं कि वह अचानक आरक्षित हो उठता है अथवा कमरा डगमगाने लगता है। बल्कि इसका कारण यह अहसास है कि कोई उसे नीचे कूदने या गिर पड़ने के लिए प्रेरित करता है। कुछ लोग तो इस डर के कारण नीचे झाँकने तक ही हिम्मत नहीं करते।"

"सोसायटी ऑफ साइक्लोजिकल रिसर्च" की अमेरिका शाखा के अध्यक्ष डॉ. थामस डब्ल्यू. सालमन ने भी इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है—"हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन में एक बार आत्म-हत्या का विचार अवश्य करता है।"

कहा नहीं जा सकता कि उपरोक्त मनोवैज्ञानिकों की यह बात कहाँ तक सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन में एक बार आत्म-हत्या अवश्य करता है क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने निजी अनुभव की बात है। लेकिन जिस प्रकार का जीवन लोग जीते हैं, उससे एक बात तो अवश्य स्पष्ट होती है कि अधिकांश व्यक्तियों को अपने जीवन से संतोष नहीं शिकायत ही ज्यादा रहती है। अधिकांश व्यक्तियों को असफलताओं, अभावों और प्रतिकूलताओं के प्रति खीझ से भरा हुआ पाया जा सकता है। उन पर अपना कोई वश न चलता देखकर लोग जीवन से ही शिकायत करने लगते हैं। असफलताओं और प्रतिकूलताओं को अपनी मनमर्जी के अनुसार तुरन्त बदला नहीं जा सकता। फलतः उनके कारण उत्पन्न होने वाली खीझ जीवन से ही शिकायत करने लगती है। जैसे कोई बाहर अपमानित हुआ व्यक्ति विवशता के कारण उस स्थान पर अपमान का प्रतिकार न कर पाने के कारण अपने स्त्री-बच्चों पर गुस्सा करने लगता है, वैसा ही कुछ व्यवहार अनबूझ समस्याओं के कारण उत्पन्न होने वाली खीझ के कारण जीवन के साथ किया जाने लगता है।

इस तथ्य को यों भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति जीवन की कठोरताओं और प्रतिकूलताओं को सहन नहीं कर पाता और

न ही उनसे निबटने का साहस रखता है तो वह जीवन से ही पलायन करने की कोशिश करता है। यह तो हुआ मनोवैज्ञानिकों का विश्लेषण, परन्तु उपलब्ध तथ्य इससे भिन्न सत्य का भी उद्‌घाटन करते हैं। जिन लोगों के जीवन में प्रतिकूलताओं, कठिनाइयों और अभावों का कहीं नाम भी नहीं होता वे भी आत्म-हत्या कर लेते हैं और अधिकांश तो ऐसे ही व्यक्ति आत्महत्या करते हैं। अभावग्रस्त जीवन जीने वाले व्यक्ति फिर भी अपनी जिन्दगी की गाड़ी जैसे-तैसे खींचते रहते हैं लेकिन सम्पन्न, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति बहुत जल्दी अपने जीवन से स्नेह संबंध तोड़ देते हैं। इसका क्या कारण है ?

अमेरिका की प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री मर्लिनमनरो की आत्महत्या अभी भी गुत्थी बनी हुई है। उसके पास रुपये, पैसों का भी अभाव नहीं था। किसी बड़े उद्योगपति से वह अधिक सम्पन्न थी। कहा जाता है कि उसके बराबर सम्पन्न व्यक्ति कम से कम भारत में तो कोई नहीं है। सम्पन्न के अतिरिक्त यश की दृष्टि से भी उसे काफी सफलता मिली है। सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा और प्रभाव में बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई मर्लिन ने आत्म-हत्या कर ली तो आज तक कोई भी उसके कारणों पर प्रकाश डालने में सफल नहीं हो सका है।

कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के सुरक्षा सचिव जेम्स फोरेस्टाल ने खिड़की से कूदकर आत्म-हत्या कर ली। इस व्यक्ति के एक संकेत पर अमेरिकी सेना और वहाँ के युद्धास्त्र, परमाणु-शस्त्र किसी भी राष्ट्र को भूमिसात कर सकते थे। इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि उस व्यक्ति का कितना प्रभाव, कितना महत्त्व और कितना सम्मान हो सकता है कि अमेरिकी प्रशासन में राष्ट्रपति भी किसी देश से संधि करने या तोड़ने, संबंध बनाने, बिगाड़ने के लिए परामर्श लिये बिना कोई निर्णय नहीं लेता, उसके परामर्श को महत्त्व देना होता है। इतने महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति को सुविधा, सम्पन्न, प्रतिष्ठा पद और सम्मान के किस बात की कमी हो सकती थी, परन्तु जेम्स फोरेस्टाल को

किन कारणों से विवश होकर आत्महत्या करनी पड़ी यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया।

कारण चाहे जो भी हों परन्तु इस तरह के उच्च पदों और उन्नति के उच्च शिखरों पर पहुँचे व्यक्तियों को अपनी सफलता से संतोष नहीं होता। यह असंतोष ही जीवन को नष्ट करने का कारण बन जाता है। कई बार तो इस असंतोष के बड़े विचित्र-विचित्र रूप सामने आते हैं। जैसे अभी कुछ समय पूर्व लन्दन के एक ८२ वर्षीय व्यक्ति अल्फ्रेड ने केवल इसलिए आत्महत्या कर ली थी कि वह अपने आप को अपने एक मित्र से अधिक वृद्ध होता अनुभव करता था।

मेनचेस्टर के डॉ. हेमिंग्वे से यह नहीं देखा गया कि उनके सिर के बाल उड़ रहे हैं। इस बात से चिन्तित होकर उन्होंने आत्महत्या कर ली।

मेक्सिको के निर्वाचित मेयर फेमिन सिवियर ने सन् १६७० में केवल इसलिए आत्महत्या कर ली कि उन्हें अपना घर पसन्द नहीं था। टर्की की एक महिला इअदिर ने इसलिए आत्महत्या कर ली—वह सोचती थी—मैं काफी जी चुकी हूँ। इअदिर की आयु मात्र चालीस वर्ष की थी। इस तरह की आत्म-हत्याएँ कारणों की दृष्टि से विचित्र सनकीपना ही लगती हैं। वस्तुतः ये सनकें नहीं हैं, लम्बे समय से चले आ रहे जीवन-यात्रा के प्रति ऊब असंतोष हैं और वह असंतोष छोटे-छोटे कारणों से भी छुरी निकालकर अपने आप का गला काट देता है।

इसका अर्थ है कि जीवन अपने आप में कोई प्रिय वस्तु नहीं है अथवा वह इस योग्य नहीं है कि उसे जिया जाय, प्रेम किया जाय। जीवन की सार्थकता, उपयोगिता तभी सिद्ध होती है जब वह किन्हीं आदर्शों के लिए जिया जा रहा हो। किन्हीं उद्देश्यों के लिए जीवन समर्पित हो। वैसी स्थिति में जीवन के प्रति ही नहीं मृत्यु का वरण जीवन का उत्सर्ग करने के प्रति भी एक उल्लास का भाव रहता है। जिन कारणों से जीवन के प्रति असंतुष्ट होकर, खीझकर लोग आत्महत्या करते हैं, वे जानते हैं कि मरने के पहले हमें बड़ी बुरी पीड़ा सहनी है। इसके बावजूद

भी वे आत्महत्या का दुस्साहस करते हैं। इसका अर्थ है कि वे जीवन से कितने ऊब चुके हैं, कितने परेशान हैं ?

परन्तु इतिहास में ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें स्वेच्छा से मृत्यु का वरण किया गया और वह भी बड़े हर्ष तथा गौरव के साथ। मुगलकाल में राजस्थान की महिलाओं द्वारा किया जाता रहा जौहर उसी स्तर की आत्महत्या रहा है जिससे देश व समाज का मान घटा नहीं उसका गौरव बढ़ा ही है। मेवाड़ की रानी पद्मिनी, माण्डव की रानी रूपमती और अन्यान्य महिलाओं ने अपने सतीत्वशील की रक्षा का कोई उपाय न देखकर कभी आग में कूदकर तो कभी विष खाकर जीवन का उत्सर्ग कर दिया। लेकिन इससे उन्हें कायर, अभिशप्त अथवा डरपोक नहीं वीर, बलिदानी और गौरवान्वित होने का ही सौभाग्य मिला। इसलिए कि उन्होंने अपने किसी आदर्श को जीवन से भी मूल्यवान समझा। स्वतन्त्रता संग्राम के समय क्रान्तिकारी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये—उन्हें भी आत्म-सन्तोष हुआ तथा राष्ट्र को भी उन पर गर्व रहा।

जीने की आकांक्षा सभी में रहती है, जीवित रहने के लिए प्रयत्न और संघर्ष भी सभी करते हैं। अन्ततः कहा जा सकता है कि जीवन के प्रति प्रेम भी सभी को होता है। यहाँ तक तो कोई असहमत नहीं होता। उलझन तब पैदा होती है कि जब लोग जीवन से ऊबकर आत्महत्या कर लेते हैं। इसका अर्थ है जीवन का कोई उद्देश्य भी है, जिसे प्राप्त न करने अथवा उस दिशा में अभीष्ट प्रगति न हो पाने अथवा उस उद्देश्य से सर्वथा विमुख दिशा में चलने के कारण इतना पश्चाताप, खीझ और ऊब होती है, इतनी आत्म-प्रताड़ना मिलती है कि उसके कारण का विश्लेषण न कर पाने के कारण लोग आत्महत्या कर बैठते हैं।

किसी आदर्श के लिए, सिद्धान्त की रक्षा के लिए लोग हँसते-हँसते जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। इसका अर्थ है कि कुछ मूल्य ऐसे भी हैं जिन्हें चुकाने के लिए जीवन का कोई भी मोह छोड़ देना पड़ता है और उस बलिदान से ऐसा भी नहीं

लगता कि कोई घाटे का सौदा हुआ। व्यक्ति उसमें भी संतोष, गौरव और हर्ष की अनुभूति करता है।'

महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि कोई व्यक्ति कितनी लम्बी जिन्दगी जीता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसका जीवन कितना सार्थक और सोद्‌देश्य है। साधन-सुविधा-सम्पन्न लम्बा जीवन भी एक दुर्बह भार बन जाता है। यदि उसके साथ आदर्श और सिद्धान्त न जुडे हों तो और अब तो यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि व्यक्ति अपने जीवन की व्यर्थता से इतना ऊब भी सकता है कि किसी भी क्षण आत्महत्या का निश्चय कर बैठे। गौरव और गरिमा तो इस बात में है कि व्यक्ति उच्च मानवी आदर्शों, उत्कृष्ट आस्थाओं तथा आदर्शवादी मान्यताओं को अपनाते हुए आत्मा की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहे। तभी जीवन का आनन्द है और जीने में संतोष है। अन्यथा उद्देश्य को भूलकर की गयी यात्रा का अन्त कहाँ होगा, यात्री उसमें अपने आपको कहाँ नष्ट कर लेगा अथवा कब अपनी यात्रा को व्यर्थ समझकर खीझ उठेगा; कहना कठिन है।

दुर्बल मनःस्थिति के लोग प्रायः अशुभ भविष्य की कल्पनाएँ करते रहते हैं। विपत्ति की, असफलता की आशंकाएँ ही उनके मन पर छाई रहती हैं। वे ऐसे कारणों को ढूँढ़ते और तर्कों को गढ़ते हैं जो भविष्य से किसी संकट के आगमन की पुष्टि कर सकें। असफलता का निराशाजनक चित्र खींच सकें। इन गढ़ी हुई तस्वीरों में मित्रों की आकृति शत्रु जैसी गढ़ दी जाती हैं। दूसरों की सामान्य गतिविधियों में भी षड्‌यन्त्रों का जाल बिछा हुआ दिखाई देता है। ये अशुभ कल्पना चित्र किसी भयंकर दैत्य-दानव से कम नहीं होते। कल्पित भूतों को आमन्त्रित करके कितने ही व्यक्ति स्व संकेतों के आधार पर बीमार पड़ते, डरते, घबराते और जान गँवाते देखे जाते हैं। डरावनी आशंकाओं के दैत्य डरपोक मनुष्य पर दिन-रात छाये रहते हैं। विपत्ति की सम्भावना उन्हें दिन-रात डराती रहती है। ऐसे मनुष्य भय से काँपते, खिन्न रहते और सदा निराशा में डूबे ही दिखाई पडते हैं। ऐसी मनः स्थिति अपने आप में एक विपत्ति है। वास्तविक विपत्ति

के आने पर जितनी क्षति हो सकती थी, उससे भी कई गुनी हानि इस अशुभ चिन्तन की आदत से होती है। ऐसा व्यक्ति अपनी बहुमूल्य चिन्तन क्षमता का बहुत बड़ा भाग इसी भट्टी में झोंकता, जलाता रहता है और कुछ महत्त्वपूर्ण सोच सकने की शक्ति गँवा बैठता है। जब देखो तब चिन्ताओं की काली घटाएँ ही उसके सिर पर छाई रहती हैं।

इस स्थिति को बदल सकना पूर्णतया अपने हाथ की बात है। कल्पनाएँ अपनी ही गढ़ी हुई तो होती हैं। उन्हें अपने ही चिन्तन, तर्क और अनुमान के सहारे ही तो खड़ा किया जाता है। जो आशंका की गई थी, जिस संभावना की कल्पना की गई थी, वह निश्चित रूप से होकर ही रहेगी यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में यदि यह गठन विधेयात्मक स्तर का किया जाए तो क्या हर्ज है। भविष्य के उज्ज्वल होने, सफलताएँ मिलने की आशा भी बँध सकती है। उसके पक्ष में भी तर्क और तथ्य ढूँढ़े जा सकते हैं, जिनमें शत्रुता का भय सोचा गया था, उनके उदासीन रहने वाला समयानुसार मित्र बन जाने की बात भी सर्वथा अशक्य ही नहीं होती। परिस्थितियाँ उलटती और तथ्य बदलते रहते हैं। आवश्यक नहीं कि अपना आज का भय कल उसी रूप में बना रहे। संभव है कि सुधार प्रयत्न पूरी तरह सफल होकर रहें और सम्भव है समय के प्रभाव में अपने चिन्तन के प्रतिकूल अनायास ही सुखद संभावनाएँ विनिर्मित होने लगें। जब परिवर्तन एक तथ्य है तो निराशा के आशा में बदल जाने की संभावना को ही क्यों अस्वीकार किया जाय ?

मस्तिष्क को चिन्तन की विधेयात्मक धारा अपनाने के लिए यदि प्रशिक्षित किया जा सके तो उतने भर से समृद्धि, सफलता, प्रसन्नता एवं उज्ज्वल भविष्य की उत्साह भरी आशा का आनन्द लिया जा सकता है। आँखों में चमकने वाली आशा, साहस बढ़ाती है और उपयोगी पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरणा देती है। निराशा में नष्ट होने वाली शक्ति को यदि आशा भरी सृजनात्मक स्थिति में प्रयुक्त किया जा सके तो इतने भर से मनोबल बढ़ने लगेगा और उस अभिवृद्धि से सहज ही, ऐसी क्षमता विकसित

हो सकेगी जिसके सहारे सचमुच ही उज्ज्वल भविष्य का सृजन हो सके।

सूक्ष्म शरीर की, मन मस्तिष्क की सृजनात्मक शक्ति को विकसित करने की चेष्टा को एक महत्त्वपूर्ण साधना कहा जा सकता है। उसके अनगढ़ होने का प्रतिफल ही हमें इस अत्यन्त उपयोगी उपकरण के अनुदानों से वंचित किये रहता है। इस दिशा में थोड़ा ध्यान दिया जाय, मस्तिष्क को अशुभ चिन्तन से विरत करके विधेयात्मक दिशा अपनाने के लिए सहमत, अभ्यस्त किया जा सके तो यह जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि ही कही जायेगी। संसार में सफलता-सम्पन्न महामानवों ने सबसे प्रथम अपने चिन्तन को परिष्कृत किया है। इसी आधार पर उनकी गतिविधियाँ सुधरीं। चिन्तन और कर्त्तव्य; इन्हीं दो पैरों के सहारे मनुष्य आगे बढ़ता है। यदि वे विकृत स्तर के हों तो प्रगति पतन की दिशा में होगी और स्थिति दुःखद एवं निराशाजनक बनती चली जायेगी।

वर्तमान उपलब्धियों का आनन्द लेने और जो हाथ में है उसका श्रेष्ठ में उपयोग करने की बात सोचते रहना बुद्धिमत्तापूर्ण है। मूर्खता इसमें है कि अपने से अधिक समृद्धों के साथ तुलना करते रहकर अकारण अपने ऊपर अभावग्रस्तता और दरिद्रता का अभिशाप लादा जाय। इस तरह सोचने पर तो बड़े से बड़ा सम्पन्न भी अपने को गरीब ही अनुभव करेगा क्योंकि उससे भी बड़ा समृद्ध तो कोई न कोई अवश्य होगा। रावण, हिरण्यकश्यपु, सिकन्दर जैसे सम्पन्न व्यक्ति भी अपनी समृद्धि से कहाँ संतुष्ट हुए थे। दरिद्रता धन की नहीं मन की होती है। अपने को अधिक अभावग्रस्तों के साथ तुलना करके हर मनुष्य अपने वर्तमान साधनों पर भी हर्ष, संतोष और गर्व अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार भूतकाल की सफलताओं का लेखा-जोखा एकत्रित कर लिया जाय तो प्रतीत होगा कि सौभाग्य ने कम साथ दिया है। असफलताओं और विपत्तियों की लिस्ट बनाने और उसी का बार-बार पाठ करने से दुर्भाग्य का देवता प्रसन्न होता है और सामने प्रकट होकर विश्वास दिलाता है कि मैं सदा

से आपके साथ रहा हूँ और भविष्य में भी कभी साथ छोड़ने वाला नहीं हूँ। निषेधात्मक रीति से सोचने वाले ही दुर्भाग्य का रोना रोते पाये जाते हैं। इन अभावों को यदि विधेयात्मक चिन्तन की चमत्कारी शक्ति का ज्ञान होता तो आज की स्थिति में भी उन्हें हँसता-हँसता पाया जाता, वे स्वयं प्रसन्न रहते और साथियों को प्रसन्नता का भी लाभ देते दृष्टिगोचर होते।

अधिक प्राप्त करने, आगे बढ़ने और ऊँचा उठने का उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना प्रशंसनीय है। अग्रगमन सराहनीय है। यह प्राणी का स्वाभाविक धर्म है। किन्तु जो उपलब्ध है उसे अपर्याप्त ही मानते रहा जाय, और वर्तमान को सर्वथा अभावपूर्ण ही मानते हुए दुःखित रहा जाय यह अनुचित है। इस राह पर चलने वाले को बड़ी से बड़ी उपलब्धियाँ भी संतुष्ट न कर सकेंगी। जो प्रस्तुत उपलब्धियों का आनन्द नहीं ले सके तो भविष्य में अधिक मिलने पर प्रसन्न या सन्तुष्ट हो सकेंगे इसकी आशा नहीं की जा सकती। उनके चिन्तन की विकृति सदा ही मानसिक दरिद्रता के शोक-संताप में डुबाये रहेगी। संसार में दुःखद बहुत कुछ है। सज्जनों की भी कमी नहीं। अपने साथ सदा अपकार ही अपकार होते रहते हों ऐसी बात नहीं। अनेकों के सहयोग और उपचार भी समय-समय पर मिलते रहे हैं। जिन्हें अपकारी या शत्रु समझते हैं उन्होंने भी पिछले दिनों कई सहयोग किये होंगे। यदि उन बातों का स्मरण किया जा सके तो प्रतीत होगा, इस संसार में मात्र दुष्टता ही नहीं भरी है। सज्जनता, सहयोग और उदारता के तत्त्व भी कम नहीं हैं। यदि उनको ढूँढ़ा जा सके तो संतोष की साँस ली जा सकती है। अपनी सज्जनता बढ़ाकर कृतज्ञता और सहकारिता को स्वभाव का अंग बनाकर हम संपर्क क्षेत्र के अधिकांश व्यक्तियों की सज्जनता उभार सकते हैं और उस प्रयास के फलस्वरूप प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलते हुए देख सकते हैं।

आलस्य और प्रमाद के चंगुल में फँसा हुआ व्यक्ति अपनी तीन चौथाई शक्ति को नष्ट कर डालता है। यदि समय और श्रम का अपव्यय रोका जा सके तो प्रतीत होगा कि क्रियाशक्ति कई

गुना बढ़ गई। प्रमादवश आधे-अधूरे मन से अन्यमनस्क रहकर उपेक्षापूर्वक बेगार भुगतने की तरह काम किये जाते हैं। फलतः वे सभी काने, कुबड़े, त्रुटिपूर्ण एवं अस्त-व्यस्त रहते हैं। अधूरे शारीरिक और मानसिक श्रम से किये गये काम अपनी त्रुटिपूर्ण स्थिति के कारण ऐसे निराशाजनक रहते हैं कि उनकी अपेक्षा न करना अधिक उत्तम रहता है। उन्हीं कार्यों की प्रशंसा होती है, वे ही लाभदायक होते हैं, जिनमें तत्परतापूर्वक शारीरिक श्रम और तन्मयतापूर्वक मनोयोग लगाया जाता है। इसी रीति से किये गये काम, कर्ता का गौरव बढ़ाते हैं और उसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हथियाने का अवसर देते हैं। प्रगतिशील मनुष्यों के समुन्नत बनने का यह क्रम रहा है कि उन्होंने अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता को अस्त-व्यस्त होने से बचाया है। आलस्य प्रमाद की अर्ध-मृतक स्थिति में अपने को नहीं फँसने दिया है। समझा जाता है कि आलस्य शरीरगत दोष या रोग है, पर वस्तुतः वह मन की तन्द्रित स्थिति है। शरीर पर मन का अधिकार है। मन के संकेतों पर ही उसकी समस्त गतिविधियाँ संचालित होती हैं। मन में उत्साह हो तो कोई कारण नहीं कि शरीर पर निष्क्रियता छाई रहे, आलस्य और प्रमाद की जोड़ी साथ-साथ चलती है। मन पर अवसाद छाया है तो शरीर में ही स्फूर्ति कैसे दृष्टिगोचर हो सकती है। कई बार रुग्ण और दुर्बल मनुष्य भी इतना काम कर गुजरते हैं कि आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। यह शरीर का नहीं मन की उभरी हुई स्थिति का ही चमत्कार होता है। आद्य शंकराचार्य रुग्ण रहते हुए भी ३२ वर्ष जैसी स्वल्प आयु के मिलने पर भी इतना काम कर सके जितना दीर्घजीवी मनुष्य कई जन्मों में भी नहीं कर सकते। यह उनके शरीर का ही नहीं मन का ही कर्तृत्व था।

ईर्ष्या, द्वेष, शोक-संताप, क्रोध, आवेश, रोष की मानसिक उत्तेजना में उस मानसिक शक्ति का बुरी तरह विनाश होता है जो सृजनात्मक कार्यों में लगा दिये जाने पर असाधारण उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर सकती थी। कहते हैं कि एक घण्टे का क्रोध एक दिन के बुखार से अधिक शक्ति नष्ट करता है।

कामुकता जैसी वासनाएँ मस्तिष्क को ऐसे चिन्तन में उलझाये रहती हैं जिसमें मिलता कुछ नहीं, गँवाना ही गँवाना हाथ लगता है। चिन्ता, निराशा, भय, आशंका जैसे थकान उत्पन्न करने वाले अवसाद और क्रोध, प्रतिशोध, द्वेष जैसे आवेश दोनों ही ज्वार-भाटों की तरह अवांछनीय उद्वेग उत्पन्न करते हैं इस जंजाल में मनुष्य को अपनी उस क्षमता को व्यर्थ नष्ट करना पड़ता है जो यदि सृजनात्मक दिशा में लगी होती तो चमत्कार उत्पन्न किया होता। प्रतिकूल परिस्थितियों में अवसाद और आवेश आता है यह ठीक है, पर यह तो अनगढ़ स्थिति हुई। परिष्कृत मनःस्थिति में इन आवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। उत्तेजना पर नियन्त्रण करके उसे अर्ध-उन्माद बनने से रोका जा सकता है। इस बचत को उस उपाय में लगाया जा सकता है जिससे प्रतिकूलताओं से जूझने के उपाय सोचने और उन्हें निरस्त करने के साधन जुटाना सम्भव हो सके। उद्विग्न रहने से प्रतिकूलताएँ घटती नहीं बढ़ती हैं। उत्तेजित मस्तिष्क निवारण का मार्ग नहीं खोज सकता वरन् हड़बड़ी में ऐसे कदम उठा लेता है जो नई विपत्ति खड़ी करते हैं और प्रतिकूलता की हानि कई गुनी बढ़ जाती है। परिस्थितिजन्य प्रतिकूलता जितनी हानि पहुँचाती है, उससे अधिक स्वनिर्मित उद्विग्नता के कारण उत्पन्न होती है। इस तथ्य को यदि समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि मनोनिग्रह की जीवन में कितनी बड़ी आवश्यकता है। अनगढ़ मस्तिष्क इतनी अधिक विपत्ति उत्पन्न करता है कि जिसकी तुलना में परिस्थितिजन्य कठिनाइयों को स्वल्प ही कहा जा सकता है। मन की सूक्ष्म शरीर से साधना करके उन स्वनिर्मित असन्तुलनों से बचा जा सकता है जो जीवन को संकटग्रस्त बनाने के बहुत बड़े कारण बने रहते हैं।

गुण, कर्म, स्वभाव का आधार शरीर में नहीं मन में जमा होता है। शरीर की बनावट से नहीं किसी का वास्तविक स्वरूप उसकी मनःस्थिति को देखकर ही जाना जा सकता है। शरीर की हरकतें, हलचलें ही सर्वसाधारण की जानकारी में आती हैं और कर्म के आधार पर ही किसी का मूल्यांकन किया जाता है

पर गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होगा कि बाह्य सफलताएँ और सम्पदाएँ वस्तुतः आन्तरिक विभूतियों की प्रतिक्रिया भर हैं। मनःस्थितियों का निर्माण करती हैं। जो इस सारगर्भित तथ्य को जानते हैं, वे भाग्य और भविष्य का निर्माण अपने हाथों करने के लिए तत्पर होते हैं। ऐसा शुभारम्भ मनः-संस्थान का परिष्कृत नव-निर्माण करने का साहस सँजोने के रूप में ही सम्भव होता है। सूक्ष्म शरीर की साधना नकद धर्म है। उसका प्रत्यक्ष परिणाम हथेली पर सरसों जमाने की तरह तत्काल सत्परिणाम प्रस्तुत करते हुए देखा जा सकता है।

● ●

अपने मनोबल को बढ़ाएँ—गिराएँ नहीं

कहते हैं कि किसी विद्यालय के चतुर विद्यार्थियों ने उस दिन स्कूल की छुट्टी कराने के लिए एक चाल चली। वे एक-एक करके किसी बहाने अध्यापक के पास पहुँचते रहे और अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहते रहे कि आपका चेहरा आज बुरी तरह उतरा हुआ है, आँखें लाल हैं और बुखार जैसे लक्षण प्रतीत हो रहे हैं। यही बात घुमा-फिराकर मिलने वाले सभी लड़के अपने-अपने ढंग से कहते चले गये।

अध्यापक ने आरंभ में तो अधिक ध्यान न दिया पर जब बार-बार वही बात सामने आई तो वह अपने बीमार होने की बात पर विश्वास करके सचमुच ही चिन्ताग्रस्त और बीमार हो गया। अन्ततः वह स्कूल से छुट्टी करके घर चला गया और विद्यार्थियों का मनोरथ मखौल-मखौल में भी पूरा हो गया।

बाल सफेद होने, चेहरे पर एक-दो झुर्रियाँ दीखने से बुढ़ापे का आक्रमण हो जाने जैसी चिन्ता करने का बहुत बड़ा कारण नहीं है किन्तु मिलने वाले उसी बात को बार-बार दुहराते रहें और चिन्ता व्यक्त करते रहें तो इन कहने वालों की चिन्ता उथली एवं बनावटी होते हुए भी उसका बुरा प्रभाव सम्बन्धित

व्यक्ति पर पड़कर ही रहेगा और वह इन शुभ चिन्तकों के कथनानुसार उसी ढाँचे में ढलता चला जायेगा और अपेक्षाकृत अधिक जल्दी वास्तविक बुढ़ापे का शिकार बनकर रहेगा। कमजोरी और बीमारी भी इसी प्रकार इन स्वजनों के द्वारा उपहार में मिल सकती है। उनकी मंशा भले ही इस प्रकार की क्षति पहुँचाना न रही हो, पर इससे किया प्रहार तो अपना असर दिखायेगा ही, भले ही वह जान-बूझकर किया गया हो या अनजान में।

अक्सर माताएँ अपने बच्चों के बारे में—पत्नियाँ अपने पतियों के बारे में कमजोरी-बीमारी आदि की बात कहकर चिन्ता व्यक्त करती रहती हैं और प्रकारान्तर से अपने प्रिय पात्रों के स्वास्थ्य को अनजाने ही हानि पहुँचाती रहती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुतः बीमार या कमजोर होने पर उस बात की उपेक्षा करते रहा जाय। उपाय, उपचार करना, परामर्श, मार्गदर्शन देना—एक बात है और ऐसा कुछ न करके मात्र अपनी अवास्तविक चिन्ता प्रकट करके किसी को वस्तुतः चिंतित कर देना दूसरी।

अभिभावक अपने बच्चों की मानसिक क्षमता-बुद्धिमत्ता के सम्बन्ध में चिंता व्यक्त करते रहते हैं। उसे घटाकर बताते हैं। अधिक तीव्र बुद्धि वालों से तुलना करते हैं और प्रकारान्तर से वे अपने बालकों को मानसिक स्थिति में हेय सिद्ध करते रहते हैं। यह भर्त्सना भले ही अपने बालक को अधिक बुद्धिमान होने की शुभ कामना से प्रेरित होकर की गई हो पर उसका तरीका ऐसा होता है जिससे बच्चों के कोमल मन पर निराशा का दबाव पड़ता है और वे वस्तुतः मूर्ख व प्रमादी बनते चले जाते हैं। आत्म-स्वीकृति को मनःशास्त्र में अत्यधिक माना गया है। यह उत्पन्न तो अपने द्वारा ही होती है, पर इसमें योगदान समीपवर्ती स्वजनों या शुभचिन्तकों का ही अधिक होता है। यह है जिसे स्वजनों का स्वजनों पर अत्याचार कह सकते हैं।

इस निषेधात्मक प्रभाव प्रक्षेपण की हानि को यदि समझा जा सकता होता और उसके स्थान पर विधेयात्मक प्रक्रिया

अपनाई जा सकी होती तो निश्चय ही खाई खोदने के स्थान पर दीवार चुनने जैसा अन्तर दिखाई पड़ता। खाई खोदने से समतल भूमि नीचे धसती जाती है। इसके विपरीत चुनने या जमा करने में वही स्थान ऊँचा उठता चला जाता है। उपयोगी भी बनता है और दूर से दिखाई पड़ता है। यदि शारीरिक स्वस्थता, मानसिक बुद्धिमत्ता, कार्मो की कुशलता, व्यक्तित्व की श्रेष्ठता को ढूँढ़ा जाय तो उसकी बड़ी मात्रा हर किसी में मिल सकती है। स्वजनों में भी उसी पक्ष को यदि उत्साहवर्धक ढंग से कहते रहा जाय तो इसका प्रभाव बहुत ही उपयोगी होगा। इनमें न तो प्रवंचना मानना चाहिए और न मिथ्याचार। प्रशंसा के योग्य प्रोत्साहित करने योग्य तत्त्व हर किसी में पाये जाते हैं भले ही मात्रा की दृष्टि में न्यून ही क्यों न हों। छोटी-सी बीमारी को निरस्त करने के लिए जब इतने प्रबल प्रयास किये जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि थोड़ी-सी अच्छाई को प्रोत्साहित करने तथा सराहने में कोताही की जाय।

यह दूसरों के साथ सहज, सहयोग और उपकार है कि उन्हें उनकी अच्छाइयों से अवगत कराया जाय, सहज सम्भावनाओं के प्रति प्रोत्साहित किया जाय और उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा सपना दिखाया जाय। यह भावनात्मक अनुदान किसी अच्छी-खासी धनराशि के देने से भी अधिक श्रेयस्कर है। धन से केवल सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति सुविधाओं की वृद्धि भर होती है किन्तु यदि व्यक्तित्व के मर्मस्थलों में गुदगुदी करना, उन्हें खिलाना और उछलना सम्भव हो सके तो उसकी तुलना अन्य किसी भी उपकार या उपहार से नहीं हो सकती।

इस सम्बन्ध में कहने और सुनने वाले दोनों ही पक्षों को सतर्कता बरतनी चाहिए। कहने वाले ध्यान रखें कि यदि किसी की कमजोरी या बुराई को सचमुच ही दूर करना है तो उसके लिए भर्त्सना एवं तिरस्कार का तरीका न अपनाया जाय। वरन् कमी को साधारण और आसानी से दूर हो सकने वाली बताया जाय। अधिक चर्चा बुराई की न की जाय, उस सन्दर्भ में समय थोड़ा लगाया जाय और अधिक समय इस प्रसंग को दिया जाय

कि सुधार में किन उपायों से, किस क्रम को अपनाने पर उस व्याधि से छुटकारा पाया जा सकता है। रचनात्मक सुझाव देना, उपाय बताना यदि अपनी सामर्थ्य के भीतर है तो वैसा रहना चाहिए अन्यथा इस विषय के अनुभवी व्यक्तियों के पास जाने—उनसे सम्बन्ध मिला देने की सहायता करनी चाहिए। हर हालत में सुधार होने और उज्ज्वल भविष्य बन सकने की सम्भावना को ही प्रधान रूप से प्रतिपादित किया जाना चाहिए।

सुनने में सावधानी यह बरती जाय कि जो सज्जन निषेधात्मक निन्दापरक, चिन्ताजनक मत व्यक्त करते हैं उनके कथन की भावुकता अथवा शुभ कामना को विकृत ढंग से प्रस्तुत करने वाला भर माना जाय। यदि उसमें कुछ तथ्य हो तो समझ लिया जाय और उसके सुधार का ध्यान रखा जाय। अन्यथा उन कथनीय बातों को ऐसे ही बात के लिए बात जैसा वार्ता विनोद भर मानकर उपेक्षित कर दी जाय। दूसरों को कहने से रोकना कठिन है। बड़ों के प्रति तो ऐसी रोकथाम अशिष्टता में गिन ली जाती है। इसलिए जब वे कह रहे हों तब तो नहीं पर पीछे कभी अवसर पाकर इस प्रकार के कथन क्रम की हानियाँ समझा देनी चाहिए। अपने लिए सीधे समझा सकना कठिन हो तो दूसरे किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा रोकथाम करा देनी चाहिए जो उन्हीं के समकक्ष पड़ता हो। पिता को माता सहज ही समझा सकती है क्योंकि उनका दर्जा लगभग समानता का होता है। इतने पर भी बात बनती दिखाई न पड़े तो ऐसे निषेधात्मक प्रहार करते रहने वालों से यथासम्भव कतराते रहना—उनके सम्पर्क में अनावश्यक रूप से न आना ही श्रेयस्कर है। आत्मरक्षा के लिए इस बचाव को करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि वह बहुत ही नीतियुक्त और कुशलतायुक्त हो। ऐसा न हो कि बात बढ़ जाय और रूठने, असहयोग करने, उपेक्षा करने जैसे नये आक्षेप लगाने लगें और वह बचाव का उपाय पहले से भी अधिक महँगा पड़े तथा विग्रह उत्पन्न कर दे।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जिनका व्यवसाय ही दूसरों को डराकर उनकी भयभीत मनःस्थिति का लाभ उठाना

होता है। इस धन्धे में ज्योतिषी लोग सबसे अग्रणी होते हैं। उनकी बात भूत-पलीतों की विद्या जानने का दावा करने वालों की भाँति है। इन लोगों के हथकण्डे समझदार तो जानते हैं और उनसे बचते भी हैं पर अपने देश की अशिक्षित और पिछड़ी जनता का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो उन लोगों पर अपनी धर्मभीरुता और मूढ़ मान्यता के कारण सहज ही विश्वास कर लेता है। ये लोग सामान्य-सी बीमारियों एवं कठिनाइयों को ग्रह-नक्षत्र एवं भूत-प्रेतों द्वारा धकेली बताकर उस विपत्तिग्रस्त को और अधिक डरा देते हैं। कठिनाई से दुःखी और भय से आतंकित व्यक्ति दुहरे प्रहार से घबरा जाता है और उन्हीं लोगों से बचाव का उपाय पूछता है। उनका नपा-तुला उत्तर एक ही होता है। कुपित ग्रह-नक्षत्र या भूत-पलीत को शान्त करने के लिए तन्त्र-मन्त्र करना पड़ेगा, उसके लिए उन्हें पैसा दिया जाय। डरे-घबराये हुए लोग इस कुचक्र से अपनी जेब कटाते और मानसिक प्रहार से अपने व्यक्तित्व की जड़ें खोखली करते रहते हैं। आशंका और भय उनके स्वभाव का अंग बन जाता है जो आगे चलकर उन्हें किसी न किसी प्रकार त्रास ही देता रहता है। इस प्रकार के मूर्खताजन्य आक्रमणों से आत्मरक्षा करना और अकारण अपने को आतंकित न होने देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

ठीक इसी प्रकार चिकित्सकों में से भी एक ओझा वर्ग ऐसा पाया जाता है जो रोग की सामान्य-सी व्यथा को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताता और प्राण-संकट उत्पन्न होने जैसा खतरा जताता है। इस प्रकार आतंकित रोगी से चिकित्सा के नाम पर मोटी रकम ऐंठते रहना सरल पड़ता है। इस कुचक्र को भी ओझाओं और ज्योतिषियों की तरह ही भयानक मानना चाहिए और जहाँ ऐसी आशंका हो वहाँ दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। रोगी तो समयानुसार अच्छे होते रहते हैं। दवादारू से ही बीमारियाँ अच्छी नहीं होतीं। प्रकृति भी अपना उपचार क्रम बराबर जारी रखती है और बीमार अच्छे होते रहते हैं। रोगोपचार का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक इस बात का

है कि कहीं बीमारी ने रोगी का मनोबल तो नहीं तोड़ दिया। कष्ट निवृत्ति, रोग-चिकित्सा, संकट मुक्ति, विपत्ति से सुरक्षा आदि के लिए प्रयत्न-पुरुषार्थ किये ही जाने चाहिए, परन्तु उन उपचारों में भयाक्रान्त एवं चिन्ताग्रस्त बनाने वाली नई विपत्ति सिर पर न बैठे, इसका और भी अधिक ध्यान रखना चाहिए। विपत्ति भी बीमारी की तरह ही समयानुसार टल जाती है किन्तु उपाय उपचार के सिलसिले में यदि मनोबल गिरा लिया गया तो वह हानि उपचार लाभ की तुलना में अधिक भारी ही पड़ेगी।

हानिकारक तत्त्वों से अपना समीपवर्ती वातावरण भरा रहता है। उससे आत्म-रक्षा की सतर्कता सदा बरतनी पड़ती है। ठीक इसी प्रकार मनोबल गिराने वाली हरकतें भी कहीं न कहीं से किसी न किसी प्रकार चलती ही रहती हैं। मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सू, जुँए, चीलड़ जैसे कृमि-कीटक नुकसान पहुँचाने में लगे रहते हैं। चूहे, सर्प, बिच्छू, कानखजूरे, मकड़ी, छिपकली भी हानि ही करती हैं। अनाज, कपड़े और फर्नीचर को बर्बाद करने वाले छोटे-छोटे कीड़ों की करतूतें कितनी चिन्ताजनक होती हैं। इन सबके आक्रमणों से होने वाली क्षति का लेखा-जोखा रखा जा सके तो प्रतीत होगा कि आक्रान्ताओं से समीपवर्ती वातावरण भरा हुआ है। चोर-उचक्के, ठग और गुण्डे अकारण ही आक्रमण करते और आघात पहुँचाते हैं। मित्र बनकर शत्रुता का परिचय देना, सब्जबाग दिखाकर विश्वासघात करना आज का फैशन है। हवा और पानी में रहने वाले अदृश्य और नगण्य विषाणु अच्छी-भली काया में किसी छिद्र से घुस पड़ते हैं और भीतर ही भीतर सर्वनाश का सरंजाम जुटाते हैं। इन सबसे बचने के लिए कृमि-कीटनाशक तरह-तरह के उपायों को निरन्तर बरतना पड़ता है। इसी श्रृंखला में मनोबल गिराने वाले उन आक्रमण, आघातों को भी जोड़कर रखना चाहिए जो देखने-सुनने में तो महत्त्वहीन लगते हैं लेकिन हानि अत्यधिक पहुँचाते हैं। प्रगति की समुचित क्षमता रखने वाले व्यक्ति भी दीन-दुर्बलों और अपंग-असहायों की तरह अपने भविष्य को अन्धकार से घिरा हुआ देखते ही नहीं, सचमुच उस विपत्ति के मुँह में धकेल भी

दिये जाते हैं। जीवन की अनेक आवश्यकताओं में प्रोत्साहन भरा सत्परामर्श भी आवश्यक है। उसे अच्छे अन्न, जल और हवा की तरह ही महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए और उसे जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

● ●

मस्तिष्क को स्वच्छन्द न फिरने दें

सोचा यह जाता है कि परिस्थितियाँ मनुष्य को सम्पन्न अथवा विपन्न बनाती हैं। मान्यता यही है कि साधनों के सहारे ही सफलता, असफलता मिलती है। कुटुम्बी, सम्बन्धी ही कष्ट देते और सुखी बनाते हैं। भाग्य और समय ही उठाता, गिराता है। ये मान्यताएँ प्रत्यक्ष घटनाक्रम के अनुसार तो सही प्रतीत होती हैं, पर यदि गहराई में उतरकर देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वस्तुस्थिति भिन्न है। अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुरूप व्यक्तित्व बनता है और उसी के चुम्बकत्व से खिंचती हुई भली या बुरी परिस्थितियाँ हमारे निकट बढ़ती चली जाती हैं। इस संसार में भला-बुरा सब कुछ है। इस बाजार में अपनी इच्छानुरूप हम जो भी चाहें खरीद सकते हैं। गलती इतनी ही होती है कि सुख चाहते तो हैं, पर उसके साधन जुटाने की अपेक्षा गलत संग्रह कर लेते हैं और प्रतिकूल परिणाम निकलने पर परिस्थितियों एवं व्यक्तियों को दोष देते हैं।

हँसती-हँसाती, खिलती-खिलाती, हलकी-फुलकी जिन्दगी जी सकना हर किसी के लिए सम्भव हो सकता है यदि अपने चित्त क्षेत्र का दूरदर्शिता के आधार पर पुनःनिर्माण करने के लिए अभिनव साहस जुटाया जा सकना संभव हो सके। जो मिला हुआ है उस पर हर्ष मनाया जाय, संतोष किया जाय और गर्व किया जाय। जो उपलब्ध है उसका श्रेष्ठतम उपयोग करने की योजना बनाई जाय। साथ ही अधिक पाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयास किया जाय। आवश्यक नहीं कि आकांक्षा के अनुरूप मात्रा

में ही प्रतिफल मिले। परिस्थितियों के चक्र में बहुत करने पर भी स्वल्प परिणाम निकलने की आशंका बनी ही रहती है। ऐसी दशा में स्वल्प संतोष का दृष्टिकोण रखा जाना बुद्धिमत्तापूर्ण है। जितना मिला उतने की खुशी मनाई जाय और शेष के लिए फिर नये सिरे से नये उत्साह और तैयारी के साथ प्रयत्न आरम्भ किया जाय। इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी सुविधाएँ मिलते चलने पर भी प्रसन्नता बनी रह सकती है। खिलाड़ी की तरह हार-जीत को बहुत महत्त्व न देते हुए खेल को अपने आप में एक मनोविनोद और स्वास्थ्य-संवर्धन का स्थिर आधार माना जा सकता है। नाटक के पात्र कई तरह के प्रिय-अप्रिय अभिनय करते हैं। उनके लिए सब विनोद, कला एवं आजीविका उपार्जन भर होता है। नाटक में प्रदर्शित घटनाओं की कोई भली-बुरी छाप उनके मन पर नहीं होती। इस दृष्टि से यदि हलकी-फुलकी जिन्दगी जीने का निश्चय किया जाय तो मात्र दृष्टिकोण बदलने से काम चल सकता है। वर्तमान परिस्थितियाँ जो आज जटिल दिखाई पड़ती हैं, कल ही सामान्य, कामचलाऊ, संतोषजनक प्रतीत होने लगेंगी और प्रतीत होगा कि अवरोधों एवं विक्षोभों का बहुत बड़ा पहाड़—धुएँ के बादलों की तरह विवेक पवन के एक ही झोंके में उड़ता हुआ कहीं से कहीं चला गया। सन्तुलित और यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते ही हमारी आधी से अधिक चिन्ताओं-समस्याओं का समाधान निकल आता है और चित्त पर लदा हुआ अनावश्यक और अवास्तविक बोझ सहज ही हलका हो जाता है।

दृष्टिकोण की विकृतियाँ हमें अकारण उलझनों में पटकती और खिन्न रहने के लिए विवश करती हैं। हम गरीब हैं या अमीर इसका निर्णय दूसरों के साथ तुलना करने में ही होता है। जब अपने को अमीरों की तुलना में तोला जाता है तो हलके पड़ते हैं और गरीब लगते हैं। पर यदि अपने से दरिद्रों के साथ तोलना आरम्भ करें तो प्रतीत होगा कि वर्तमान स्थिति भी कम सौभाग्यशाली नहीं है। यदि हम अपनी असफलताओं की सूची बनाएँ तो प्रतीत होगा कि पग-पग पर हार होती ही है, ठोकरें

लगी हैं और पराभव का बार-बार मुँह देखना पड़ा है। किन्तु यदि असफलताओं की दूसरी सूची तैयार की जा सके तो प्रतीत होगा कि सौभाग्य ने कितना साथ दिया है और ईश्वर के अनुग्रह से समय-समय पर मिलती रही सफलताओं का कितना अधिक अवसर मिलता रहा है। सुख-दुख, सफलता-असफलता, लाभ-हानि के उभयपक्षीय अवसर नित्य ही सामने आते हैं। इनमें हम जिन्हें महत्त्व देते हैं, वे ही सामने खड़े हो जाते हैं। सौभाग्यों और दुर्भाग्यों में से जिन्हें भी गिनना चाहें, उन्हीं की भरमार दिखाई देगी। संसार में न कोई पूर्ण सुखी है और न दुःखी। मिश्रित जीवनक्रम ही हर किसी के सामने रहता है। रात-दिन मिलकर ही समय-चक्र घूमता है। नमक और शक्कर के मिले-जुले स्वाद ही सरस लगते हैं। ताने और बाने से मिलकर कपड़ा बुना जाता है। जन्म और मरण के चक्र पर ही जीवन की धुरी घूमती है। एक की हानि दूसरे का लाभ बनती है। यदि इस दुरंगी दुनिया की संरचना को विवेकपूर्ण समझा जा सके तो धूप-छाँह का—झूले पर आगे-पीछे जाने का—समुद्र के ज्वार-भाटे का आनन्द लिया जा सकता है। दुनिया हमारे लिए नहीं बनी है। अपनी इच्छानुसार ही सब कुछ होता रहे ऐसा सम्भव नहीं। संसारभर से काँटे नहीं बीने जा सकते। अपने पैर में जूते पहन कर चला जा सकता है और काँटों की चुभन से बचा जा सकता है। संसार में फैली हुई बुराइयों को ही देखते रहने के स्थान पर यदि अच्छाइयों पर भी दृष्टि डाली जाय तो सन्तुलन बना रह सकता है। अपने साथ अपकार करने वालों की सूची के साथ-साथ यदि उपकारों को भी गिन लिया जाय तो खिन्नता का आधा भाग प्रसन्नता के अधिकार में चला जाएगा। निकट भविष्य में विपत्ति की आशंका करते रहने से मन भारी रहता है। यदि उज्ज्वल भविष्य की आशा सँजोने लगें तो उतने भर से आँखों पर छाया हुआ निराशा का अँधेरा हट सकता है और सुखद सम्भावना की कल्पना से नई ज्योति चमक सकती है।

संसार के सफल मनुष्यों में यह गुण रहा है कि वे अपनी बहुमूल्य विचार-सम्पदा को मात्र उपयोगी एवं आवश्यक कार्यों में

नियोजित किये रहते हैं। एकाग्रता इसी का नाम है। कल्पना शक्ति को सर्वथा कुण्ठित कर देना—मन को एक बिन्दु पर ही केन्द्रित किये रहना—किन्हीं योगियों के लिए ही सम्भव हो सकता है। सामान्यतः एकाग्रता इतनी ही सम्भव है कि अपने अभीष्ट प्रयोजनों में चिन्तन को तन्मयतापूर्वक नियोजित रखा जा सके। साहित्यकार, कलाकार, वैज्ञानिक, योगसाधक तथा दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मन की इतनी ही साधना कर पाते हैं कि चिन्तन को नियत प्रयोजन के लिए तत्पर कर सकने—उसे बिखरने न देने में समर्थ रह सकें। इतनी सिद्धि जिसे प्राप्त हो सके वह अपने विषय में गहराई तक उतर सकता है। उथले मन से सोचने पर आधी-अधूरी बातें ही हाथ लगती हैं, पर तन्मयतापूर्वक सोचने से मस्तिष्कीय शक्तियाँ केन्द्रीभूत होने के कारण प्रखर बन जाती हैं और ऐसे आधार ढूँढ़ निकालती हैं; जिन्हें सूझ-बूझ, दूरदर्शिता एवं विशेषता-सम्पन्न कहा जा सके। अनेक अद्भुत सफलताएँ इसी एकाग्रता के बल पर प्राप्त होती हैं।

प्रस्तुत समस्याओं के समाधान का तथा भावी प्रगति के आधार खड़े करने का—इतना बड़ा क्षेत्र सामने पड़ा होता है कि मस्तिष्कीय क्षमता को पूरी तरह उसमें जुटाने पर ही प्रगति का पथ-प्रशस्त हो सकता है। अनावश्यक विचार प्रायः अवांछनीय होते हैं। खाली दिमाग शैतान की दुकान माना जाता है। अनियन्त्रित विचार सदा निम्नगामी होते हैं। पानी सदा नीचे की ओर बहता है। प्रवृत्तियाँ ही पाप और पतन की ओर दौड़ती हैं। यदि उन्हें उच्छृंखल छोड़ दिया जाय तो मात्र अशुभ ही सोचेंगी और कुकर्मों को ही प्रेरणा देंगी। उन्हें रचनात्मक दिशा में लगाए रहना ही वह उपाय है जिससे ये महत्त्वपूर्ण शक्ति विग्रह और विनाश में न जुट जायँ। जिस प्रकार निठल्ले रहने से शरीर आलसी, व्यसनी और अस्वस्थ बनता है, उसी प्रकार मन को निरुद्देश्य फिरते रहने की छूट मिलने पर उससे पतन और पराभव का पथ प्रशस्त होता है।

चिकित्सा-विज्ञानी यह मानते हैं कि मानसिक विकार एवं भ्रान्तियाँ रोगोत्पत्ति में एक प्रमुख कारण हैं, पर वे भी प्रधानता शारीरिक लक्षणों—उनकी बाह्य प्रतिक्रियाओं को देते चले आये हैं। एनॉटामी एवं फिजियोलॉजी विज्ञान इन दोनों से परे किसी भी सत्ता के अस्तित्व को नकारते हुए चिकित्सा हेतु मनःविश्लेषण, तनाव शामक औषधियों एवं शारीरिक लक्षणों के तात्कालिक उपचार क्रमों को ही प्रधानता देता है।

आयुर्वेद का इतिहास बहुत पुराना है। वर्तमान प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों का विकास तो अभी-अभी गत कुछ शताब्दियों में हुआ है। परन्तु भारतीय आयुर्वेद विज्ञान रोग की जड़ के निदान का वर्णन कर उपचार हेतु दैनन्दिन के जीवनक्रम में उपलब्ध होने वाली जड़ी-बूटियों तथा रसायन आदि की व्यवस्था करता आया है। इस विज्ञान में रोगोत्पत्ति निदान व चिकित्सा हेतु समग्र मानव और उसके आन्तरिक जीवन पर विचार किया जाता है। जिस 'साइकोसोमेटिक' रोग को पाश्चात्य वैज्ञानिक मनोरोगों की शारीरिक प्रक्रिया बताकर आज वर्णन करते हैं, उसकी व्याख्या सूत्रात्मक शैली में 'प्रज्ञापराध' के रूप में आयुर्वेद में पहले ही कर दी गई है।

चरक संहिता के अनुसार—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्ट-कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोष प्रकोपनम्।।

अर्थात्—"बुद्धि, धैर्य और स्मृति से भ्रष्ट होकर मनुष्य जो अशुभ कर्म करता है, उसे प्रज्ञापराध जानना चाहिए, उससे सर्वदोष प्रकुपित होते हैं।"

किसी भी चिकित्सा विज्ञान में पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों एवं उनकी इस जन्म में रोगों के रूप में परिणति का वर्णन इस प्रकार न हुआ होगा जैसा कि महर्षि चरक ने किया है—

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्मयत् पौर्वदेहिकम्।
हेतस्तदपि कालेन रोगाणामुपलक्ष्यते।।

अर्थात्—"पूर्व जन्म का कर्म भी, जिसे दैव कहते हैं, कालान्तर में रोगों का हेतु देखा जाता है।"

प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ये प्रतिपादन प्रयोगशाला में सिद्ध भले ही न किये जा सकें, पर इनकी दैनन्दिन जीवन-व्यापार में लीला सर्वत्र दृष्टिगोचर होती रहती है। 'प्रज्ञा' को आयुर्वेद ने परम पवित्र एवं अमूल्य निधि बताया है जो मानव को सृष्टा का वरदान है। जो इसे जितना प्रखर परिष्कृत बनाए रखता है, वह न केवल अपने आपको व्यक्तित्व-सम्पन्न बनाता है अपितु अपने स्वस्थ जीवन का पथ भी प्रशस्त करता है। प्रज्ञा उसे कहते हैं जो दुर्भाव-द्वेषों से मुक्त हो—भावना-प्रधान बुद्धि हो—जिसमें आदर्शवादी निष्ठाओं का जीवन में समावेश हो एवं कृत्रिमतारहित हो।

इस शब्द को आधार बनाकर स्वस्थ-अस्वस्थ मानसिकता एवं तदनुसार रोगों का निर्धारण कितना सूझ-बूझ कर लिया गया है, यह आज की व्याधियों की अनेकानेक थ्योरीज एवं 'रोगोत्पत्ति' पर किये गये प्रतिपादनों को पढ़कर पता चलता है। 'कीटाणुवाद', जो आज ऐलोपैथी चिकित्सा पद्धति का मूल आधार है, को भी 'चरक' ने अस्वीकार नहीं किया है। अन्तर बस इतना ही है कि इसे पूर्व जन्म के पापकर्म का फलोदय, इस जन्म में उस प्रज्ञापराध को जीवनी शक्ति के ह्रास में परिणति तथा प्रतिक्रिया रूप में जीवाणु वर्ग का शरीर में प्रवेश बताते हैं। 'आल्टरनेटिव मेडीसिन' के समर्थक अब आधुनिक विश्व में बढ़ते जा रहे हैं। वे भी जीवाणु के आक्रमण को अनास्था-असंतुलन की फलश्रुति मानते हैं। यह अनास्था ही शास्त्रों में 'प्रज्ञापराध' के रूप में वर्णित की गई है।

प्रज्ञापराध कारण है—विवेक से च्युत होना। काम, क्रोध, लोभ इत्यादि के वश में होकर मनुष्य जब स्वयं पर संयम खो बैठता है, तब उसे उचित-अनुचित का भान नहीं रहता। वह अनायास ही ऐसा अपराध कर बैठता है जो काया के स्वस्थ जीवनक्रम को असन्तुलित कर देता है। असंयम चाहे वह मानसिक हो अथवा रसेन्द्रियों-कामेन्द्रियों के माध्यम से शारीरिक

संयम की अनियमितता हो अथवा अर्थ एवं वाणी का असंयम—इसकी परिणति होती है असन्तुलित चित्तवृत्ति में। यही अपनी बाह्य अभिव्यक्ति शारीरिक रोगों के लक्षणों के रूप में करती है। विडम्बना यह है कि उपचार इन लक्षणों का किया जाता है न कि उस जड़ का जो गहरे में बैठी रहती है एवं उपयुक्त परिस्थितियाँ पाकर फूटती रहती है। गरुड़ पुराण में उल्लेख आता है—

"चित्तायतं धातुवश्यं शरीरं चित्ते नष्टे धातुवोयन्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वदा रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते धातवः सम्भवन्ति।।"

अर्थात्—"मानवी काया चित्तायत्त है और धातुओं के वश में है। चित्त के नाश से धातुएँ नष्ट हो जाती हैं, इसलिए सर्वदा चित्त की रक्षा करनी चाहिए। यदि चित्त स्वस्थ है तो धातुएँ पुष्ट होती हैं और पुष्ट धातुओं का अर्थ है स्वस्थ नीरोग काया।"

चरक के अनुसार प्रज्ञापराध का वास्तविक रूप इस प्रकार है—

"संग्रहेण चातियोगबर्जं कर्म वाङ्मनःशरीर महित मनुपदिष्टं यत्तच्च मिथ्यायोगं विद्यात्। इति त्रिविध विकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्थेत्।।"

अर्थात्—"मन, वचन और शरीर के लिए अहितकर और शास्त्र निषिद्ध अतियोग, आयोग और मिथ्यारोग इन त्रिविध विकल्प रूप कर्मों को प्रज्ञापराध कहते हैं।"

आयुर्वेद का कथन कि वेगों (ड्राइव) या (मोटिव) को अनुचित रूप से रोकने या बलपूर्वक प्रवृत्त करने से रोगोत्पत्ति होती—वैज्ञानिक शोध का विषय है। मल-मूत्र-वीर्य-वायु का प्राकृतिक प्रवाह न तो एकाएक रोकना चाहिए, न ही उन्हें बलपूर्वक क्षरित होने देना चाहिए क्योंकि फिर ये ही रोगों का कारण बनते हैं।

इन अपराधों के अतिरिक्त वाणी के अपराधों को भी प्रज्ञापराधों में गिना गया है और उन्हें रोगों का कारण माना गया है। वाणी का सदुपयोग और दुरुपयोग ही आनन्द व उद्वेग का,

स्वास्थ्य एवं अस्वस्थता का कारण बनता है, ऐसा शास्त्रों का मत है। वाणी के संयम को वाड्मय तप बताया गया है, जो स्वास्थ्य का सहज साधन है। इसी आधार पर बताया जाता है कि रोगी से कहे गये प्रेम-सहानुभूति से युक्त चिकित्सक के वचन रोगी का आधा रोग दूर कर देते हैं। संयत, शिष्ट और सत्य वचन युक्त मृदु वाणी—व्यवहार एक सुसंस्कृत और स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण हैं।

प्रज्ञापराध व्यक्ति तक सीमित नहीं है। इसकी प्रतिक्रियाएँ समाज के हर घटक पर होती हैं और सामाजिक स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव पड़ता है। दुष्कर्मों का बढ़ना—उनमें सूक्ष्म वातावरण का प्रदूषित होना और उसकी परिणति प्रकृति पर दुष्प्रभाव के रूप में होना एक तथ्य है। इसी व्यापक सामाजिक प्रज्ञापराध को 'धर्मग्लानि' के नाम से सम्बोधित किया जा रहा है।

वस्तुतः स्वस्थ जीवन का आधार है—अध्यात्म सिद्धान्तों का जीवन के हर क्षण—हर गतिविधि में व्यापक समावेश। दवाओं से स्वास्थ्य नहीं खरीदा जा सकता। १९०० करोड़ रुपये की वार्षिक खरीद करने वाले ८२ करोड़ की जनसंख्या वाले भारतवर्ष के नीति-निर्माताओं को नागरिकों का स्वास्थ्य सुधारने मात्र के लिए ही नहीं, राष्ट्रीय अर्थनीति को आमूलचूल रूप से बदलने व राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए भी इस ओर तुरन्त ध्यान देना चाहिए।

प्रज्ञापराध और कुछ नहीं, प्रकारान्तर से आस्था संकट है—अनास्था रूपी दैत्य का दुष्प्रभाव ही है। यही व्यक्तिगत व समष्टिगत रोगों का मूल कारण है। यही बढ़कर मनुष्य के पतन पराभव का मार्ग प्रशस्त करता है। उससे बचने के लिए मन-मस्तिष्क को सदा विधेयात्मक दिशा देनी होगी।

● ●

भोगवादी चिन्तन शैली को पलटना होगा

अपराधों के बारे में जो सरकारी आँकड़े उपलब्ध हैं वे इस तथ्य का प्रमाण हैं कि अपने देश में अपराध लगातार बढ़ रहे हैं। पुलिस के प्रतिवेदनों के अनुसार मुंबई, दिल्ली, बंगलौर, कलकत्ता, चैन्नई, कानुपर, अहमदाबाद और हैदराबाद में १९७६ की तुलना में १९७७ में अपराध अधिक हुए। सर्वाधिक अपराध बम्बई में दर्ज किये गये—शेष शहरों में उपर्युक्त क्रम से ही अपराधों की संख्या कम दर्ज है। बम्बई में जनवरी, फरवरी और मार्च १९७७ इन तीन महीनों में आठ हजार दो सौ साठ अपराध पुलिस के रोजनामचे में अंकित किये गये। इससे कहीं अधिक अपराध ऐसे भी होते हैं, जो नागरिकों की उदासीनता, पीड़ित पक्ष के मन में पुलिस के आतंक या आक्रामक पक्ष का पुलिस पर प्रभाव-दबाव अथवा किसी प्रलोभन के अभाव में पुलिस की अनिच्छा आदि कारणों से दर्ज नहीं किए जाते।

शासकीय आँकड़ों के ही अनुसार सन् १९७७ के आखिरी महीनों में ही देश में हत्याओं की संख्या बढ़ी, ग्रामीण क्षेत्रों में डाकुओं की संख्या बढ़ी। रेलयात्रा और राजमार्गों पर बसों से यात्रा अधिक असुरक्षित हो गई। गुण्डागर्दी और बाल अपराध भी बढ़े तथा शासन के विरुद्ध रोष-प्रदर्शन की आड़ में अराजक तत्त्वों की उपद्रवी गतिविधियाँ भी बढ़ीं, जो कि वस्तुतः राजनैतिक कम, आपराधिक अधिक हैं।

दंगे को प्रायः साम्प्रदायिक रूप दिया जाता है। किन्तु उनकी तह में जाने पर भी यही स्पष्ट होता है कि प्रायः किसी शहर-कस्बे के कुछ गुण्डे, उद्दण्ड किस्म के मनचले आवारा नौजवान सर्वथा निजी कारणों से अपनी उन्मत्त गतिविधियों के द्वारा इन दंगों की शुरूआत करते हैं।

राजस्थान को अब तक अन्य राज्यों की तुलना में शान्त राज्य माना जाता था, किन्तु १९७७ के वर्ष में वहाँ भी अपराधों

में रिकार्ड तोड़ वृद्धि हुई। १९७७ के वर्ष में जयपुर में ५७ हत्याएँ तथा साढ़े आठ हजार से अधिक अन्य अपराध अंकित किये गये। उदयपुर में ५ हजार दो सौ अपराधों के अतिरिक्त ४३ हत्याओं के मामले दर्ज हुए। कोटा में भी अपराधों की संख्या लगभग उदयपुर जैसी ही रही। हत्याएँ ४५ दर्ज की गयीं। जबकि गंगानगर में हत्याओं की संख्या जयपुर के बराबर अर्थात् ५७ रही।

पाश्चात्य चिन्तन शैली के अभ्यस्त कई समाजशास्त्रियों के अनुसार हत्याओं और अपराधों में यह वृद्धि आवश्यक है, क्योंकि भारतीय समाज आज संक्रमण काल से गुजर रहा है और औद्योगिक क्रान्ति के दबाव से नये सामाजिक तनाव पैदा हो रहे हैं। आर्थिक दबाव यानी गरीबी तथा शहरीकरण जनित गुमनामी यानी अपरिचय की सुविधा इसके मुख्य कारण बताए जाते हैं। सामाजिक जागरूकता की वृद्धि गरीबों में धनिकों के प्रति क्षोभ उत्पन्न करती है तथा शहर में एक-दूसरे के कुलशील ठौर-ठिकाने का अता-पता न होने से अपराध कर गुमनाम हो जाना आसान हो जाता है—ऐसा इन समाजशास्त्रियों द्वारा विश्लेषित किया जाता है।

यदि विपन्नता और सम्पन्नता की भीषण विषमता से उत्पन्न तनाव अपराधों का मुख्य कारण रहा होता तो अमरीका में, इस तनाव का अभाव है, तब वहाँ गंभीर अपराध नहीं होने चाहिए। किन्तु वास्तविकता इससे विपरीत है। अमरीका में प्रति आधा घण्टे में एक हत्या हो जाती है। दूसरी ओर यदि गुमनामी या अपरिचय की असुविधा स्वाभाविक रूप में अपराध वृत्ति को उभारने वाली हुआ करती, तो तीर्थयात्री भी अपरिचित स्थानों पर जाकर भीड़-भक्कड़ में अपराध किया करते। जबकि वे लोग तीर्थयात्रा के दौरान सामान्य से अधिक ही उत्कृष्ट आचरण का प्रयास करते हैं।

स्पष्ट है कि अपराधों की जड़ साधनों की प्रचुरता या अभाव अथवा अवसरों की उपलब्धि से सम्बन्धित नहीं है। अपितु वह मानवीय चिन्तन से सम्बन्धित है। सामाजिक परिवेश अवरोधों के लिए उत्तरदायी तो है, किन्तु सामाजिक परिवेश का

अर्थ समाज का भौतिक ढाँचा या समाज में साधनों, उपकरणों का औसत नहीं है अपितु समाज में किन गुणों, मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा है, इससे सामाजिक परिवेश बनता है।

जब तक सामाजिक परिवेश मानसिक उद्वेगों को बढ़ाने वाला रहेगा, समाज में उद्धत आचरण और अपराध-क्रम बढ़ते रहेंगे। वातावरण में ही व्यक्तियों का अन्तरंग और बहिरंग ढाँचा ढालने की क्षमता होती है। यदि वर्तमान ढाँचे अस्वस्थ, असुन्दर और अशिव रूपों का निर्माण करने वाले प्रतीत होते हैं तो उनका स्वरूप परिवर्तित करने की ही आवश्यकता है।

छोटी श्रेणी के पशु मात्र शरीर—स्वार्थ की पूर्ति के लिए हत्याएँ करते हैं। किन्तु मनुष्य तो ऐसी भी हत्याएँ और अपराध करते देखे जाते हैं, जिनसे न तो उनके शरीर को कोई लाभ पहुँचता है न ही मन को। यह चिन्तन भावनाओं की विकृति नहीं तो और क्या है ?

अपराधी प्रवृत्ति भय, आशंका, अविश्वास, घृणा और क्षोभ की अधिकता से बढ़ती है। इन पर रोक लगाने का काम अन्तःकरण की वे आस्थाएँ ही कर सकती हैं जिन्हें आस्तिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता, सदाशयता, सद्‌भावशीलता, संस्कार-सम्पन्नता के रूप में जाना जाता है। सरकारी रोकथाम से बात अधिक बनती नहीं।

सरकारी रोकथाम के आधार कानून, औजार और पुलिस हैं। विकृत वातावरण में ये दोनों ही उद्देश्य-पूर्ति में विफल-अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। यह शिकायत आये दिन की जाती है कि पुलिस-प्रशासन में ईमानदार, निष्ठावान लोगों की कमी है। परन्तु सोचने की बात यह है कि पुलिस आसमान से नहीं टपकती। पुलिस के लोग और जनता एक ही ढाँचे की उत्पत्ति हैं। पुलिसमैन, अपराधी तथा पीड़ित—तीनों ही साथ-साथ गाँव की धूल भरी पगडण्डियों में, हरे-भरे खेत-खलिहानों के बीच, बाढ़ और सूखे की मार सहते हुए बढ़ते हैं या फिर कस्बों-शहरों के मुहल्लों में साथ-साथ खेलते-घूमते बड़े होते हैं। यदि उस वातावरण में ही करुणा, संवेदना, कोमलता की भावनाएँ ही

उभारने वाले तत्त्व पर्याप्त मात्रा में रहे तो अपराध की प्रवृत्तियाँ कभी भी बढ़ नहीं सकतीं।

जहाँ तक कानूनों की बात है, हर काम के विरुद्ध कानून हैं। अपराधियों के लिए जेल, पुलिस, न्यायालय की पूरी व्यवस्था है। जाँच-पड़ताल के लिए गुप्तचरों का सरकारी तंत्र है। इन सब पर भारी खर्च भी होता है। किन्तु अपराध दिनदहाड़े जारी हैं और बढ़ रहे हैं। पचास प्रतिशत अपराध तो अंकित ही नहीं किये, कराये जाते हैं। जो दर्ज होते हैं, उनमें भी दस प्रतिशत पकड़ में नहीं आते। जितने लोग पकड़े जाते हैं, उनमें से तीन-चौथाई तिकड़म-तरकीब, धन-आतंक, प्रभाव-दबाव से छूट जाते हैं, दण्ड-प्रक्रिया दुरूह है ही। एक साधनहीन को न्याय पाना कठिन हो जाता है। निस्सन्देह पुलिस, न्यायालय, कारागार सभी की अत्यधिक आवश्यकता है। किन्तु अपराधों की रोक इतने भर से नहीं हो सकती। ये प्रतिबन्धात्मक कार्यवाहियाँ तो अनीति-अत्याचार की वृद्धि पर कुछ सीमा तक रोक लगा सकती हैं। मुख्य आवश्यकता उन दुष्प्रवृत्तियों की प्रेरणा के आधारों को ही समाप्त करने की है जो इन अपराधों तथा न्याय-व्यवस्था में होने वाली चालाकियों के लिए उत्तरदायी हैं। जब तक अधिसंख्य-जनता का मन दुष्प्रवृत्तियों को पकड़े रहेगा, तब तक अपराधों की बाढ़ सामाजिक बन्धनों-मर्यादाओं को इसी प्रकार तोड़ती रहेगी।

सर्वसाधारण अपराधियों और पुलिस को कोसकर अपने को कर्त्तव्यमुक्त तथा सज्जन मान बैठते हैं। इस भयानक भ्रान्ति का कारण भी चिन्तन की विकृति ही है। अपराध, अन्याय और अनीति का मौनदर्शक बना रहकर वह उसमें सहयोगी हो रहा है, यह बात उसकी समझ में नहीं आती। इसका कारण भी चिन्तन की विकृति ही तो है। आधे दिन सड़क से युवतियों-महिलाओं को दो-चार गुण्डे अपहृत कर ले जाते हैं और सैकड़ों लोग तमाशा देखते रहते हैं। दिन दहाड़े मार-पीट, खून-खराबा मचाया जाता है और हजारों की भीड़ सहमी-सिमटी सब ताकती रहती है। यह सब अन्तःक्षेत्र में घुसी कायरता के अतिरिक्त और क्या है ?

कायरता और आक्रामकता जुड़वाँ बहिनें हैं। भीतर से कायर व्यक्ति ही कमजोरी के प्रति आक्रामक होता है। इसी प्रकार स्वार्थान्धता और निष्ठुरता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वार्थान्ध व्यक्ति सदैव निष्ठुर होता है। असंस्कृत व्यक्ति करुणाहीन होता है तथा जिसे नीति में आन्तरिक निष्ठा नहीं है, वह अपराधी होगा ही।

वस्तुतः अपराधों का क्रम न्यायसंहिता की परिधि की पहुँच से बहुत पहले प्रारम्भ होता है। जिन कार्यों के लिए दण्ड-संहिता में कोई व्यवस्था नहीं है, वे ही अपराधों के उद्‌गम-केन्द्र हैं। आलस्य-प्रमाद, असंयम, अशिष्टता, उद्धत आचरण, द्वेष-दुर्भाव, कुदृष्टि-कुभाव, कटु भाषण, अस्त-अव्यस्तता, नशा-पानी, अस्वच्छता, अनुशासनहीनता जैसी अवांछनीयताएँ सरकारी अंकुश से भले ही मुक्त हैं, पर वस्तुतः अपराधों की कारणभूत उत्तेजनाएँ इन्हीं से पनपती, फैलती हैं। ये ही अवांछनीयताएँ बढ़कर विध्वंसक अपराधों-विभीषकाओं का रूप ले लेती हैं। नैतिक और नागरिक मर्यादाओं का निरन्तर-उल्लंघन तथा मानवीय संवेदनशीलता का नितांत अभाव ही अपराधों का वास्तविक आधार और प्रेरणा-केन्द्र है क्योंकि ये ही आदमी को धीरे-धीरे खोखला, हीन और संकीर्ण बनाती हैं जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपराध करने और सहने के रूप में सामने आती है। जिन्हें स्तरहीनता, परपीड़न और मर्यादाहीनता में कोई संकोच नहीं होता, वे अनास्थावादी लोग ही अपराधी बनते, गुण्डागर्दी अपनाते, आतंक उत्पन्न करते तथा चोरी-ठगी पर उतारू रहते हैं। यह अभ्यास उन्हें हत्या, बलात्कार जैसे नृशंस क्रूर कर्म में भी निर्लज्ज बनाये रहता है।

अतः अपराधों की बाढ़ से बचने के लिए अनैतिकता के आरम्भिक विकास पर दृष्टि डालनी चाहिए और उसे ही रोकने की व्यवस्था करनी चाहिए। भोग की निरंकुश भूख और मन की मनमानी उछल-कूद को ही जिस समाज में स्वाभाविक मान लिया गया, वहाँ हिंसा, क्रूरता तथा अपराध अवश्यम्भावी हैं।

अतः आवश्यकता आस्थाओं के परिष्कार की, अन्तःकरण के उत्सर्ग की है। अन्तःकरण को सुसंस्कारित बनाने, अध्यात्म को प्राण-प्रतिष्ठा का महत्त्व समझाने की है। कहने वाले प्रायः

कहते हैं कि अध्यात्म से क्या होगा ? उससे धन तो मिल नहीं जाएगा। उन्हें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि अध्यात्म से धन नहीं मानसिक वर्चस, आत्मशांति, आत्मसंतोष, वास्तविक आनंद मिलेगा, जो धन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। साथ ही जो धन के संरक्षण-सदुपयोग के लिए भी आवश्यक है। अराजकता-असामाजिकता की चपेट से धन भी बचा नहीं रह पाता। सुख-शान्ति तो उस स्थिति में कभी मिलती ही नहीं।

मनुष्य मूलतः अपराधी, अविश्वासी, असहयोगी और असंवेदनशील नहीं होता। इसके विपरीत, मनुष्य-स्वभाव में संवेदना, सहकारिता तथा सदाशयता भी कूट-कूटकर भरी हुई है। ऐसी स्थिति में अपराधों की वृद्धि का कारण विकृत-चिन्तन और दूषित दृष्टिकोण के अतिरिक्त और क्या है ? स्पष्ट है कि मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने की ओर यदि ध्यान नहीं दिया गया तो आज की वस्तुस्थिति बदलने की नहीं।

भोगवादी दृष्टिकोण वाले समाज में गतिविधियों का अर्थ भी नाच-गाने, कामोत्तेजना और सस्ते मनोरंजन तक सिमटकर रह गया। किन्तु वास्तविक सांस्कृतिक गतिविधि वह है जो व्यक्ति को सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न, सुसंस्कारित बनाए। उसमें सिद्धान्तों, विचारों की समझ पैदा करे और सही दृष्टि दे। जब तक व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया जायेगा, उसकी भौतिक वृत्तियों को ही प्रधानता देकर उभारा-उछाला जाता रहेगा, तब तक समाज में पशु-प्रवृत्तियों का प्राधान्य भी बना ही रहेगा।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि अपराधियों को दण्ड देने और अपराधों की धर-पकड़ पर जितना ध्यान दिया जाय और खर्च किया जाय, सांस्कृतिक चेतना के प्रसार हेतु उससे अधिक ही हो। इसे ही आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण-प्रसार कहा जाता है। जब तक उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श आचरण की महत्ता व्यक्ति के अन्तःकरण में अंकित नहीं होगी, अपराधों की वास्तविक रोकथाम और समाप्ति सम्भव नहीं होगी।

● ●

दूरदर्शिता का पल्ला कभी न छोड़ें

संसार में अच्छे लोग हैं और बुरे भी। परिस्थितियाँ अनुकूल हैं और प्रतिकूल भी। इन दोनों में ही सन्तुलन एवं सामंजस्य बिठाकर चलने वाले व्यक्ति जीवन में सफल रहते तथा इस विश्व वसुन्धरा का वास्तविक आनन्द उठाते हैं। कठिनाई सामंजस्य के अभाव में पड़ती है। अपना सन्तुलन बना रहे तो बुरे व्यक्तियों और गई-गुजरी परिस्थितियों के बीच रहते हुए भी प्रसन्नचित्त रहा जा सकता है, जबकि मानसिक सन्तुलन एवं सूझ-बूझ के अभाव में अच्छे व्यक्तियों एवं अनुकूल परिस्थितियों के बीच रहते हुए भी कितने ही व्यक्ति खिन्न, व्यग्र एवं अशान्त बने रहते हैं। यह असन्तुलन का ही परिचायक है। ऐसे व्यक्ति जीवन के छोटे-मोटे आघातों को भी नहीं सहन कर पाते। छोटी-छोटी बातों एवं सामान्य विरोधों के कारण अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। उनकी प्रसन्नता, अप्रसन्नता अनुकूल परिस्थितियों एवं व्यक्तियों पर निर्भर करती है। व्यावहारिक जीवन में आई सामान्य कठिनाइयों को भी वे पहाड़ जैसा देखते हैं। उनके कारण एवं निवारण ढूँढ़ने के स्थान पर खिन्न एवं निराश बने अपनी असमर्थता का रोना रोते रहते हैं। बेसब्री एवं व्यग्रता स्वभाव का अंग बन जाने के कारण प्रस्तुत समस्या का जो हल थोड़ी सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता के आधार पर निकल सकता था वह भी असम्भव हो जाता है।

भली-बुरी परिस्थितियाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रस्तुत होती हैं। उनका सामना करना पड़ता है। मनुष्य के मानसिक सन्तुलन, धैर्य एवं दूरदर्शिता की परख प्रतिकूल अवसरों पर ही होती है। जब तक प्रतिकूल अवसर न आये अथवा बुरे व्यक्तियों से सामना न पड़े तब तक किसी भी व्यक्ति की सूझ-बूझ की परख कर सकना सम्भव नहीं है। वास्तविकता की परख तो कठिन अवसरों पर ही होती है। किसमें कितना धैर्य एवं सूझ-बूझ

है, इसका मूल्यांकन प्रस्तुत संकटों के आधार पर किया जा सकता है। मानसिक सन्तुलन बना रहे तो हर प्रकार की कठिनाइयों का सामना किया जा सकता है। कठिनाई असन्तुलन के कारण उत्पन्न होती है। सामान्य और असामान्य व्यक्तियों में अन्तर उनकी बौद्धिक क्षमता का नहीं मनःसन्तुलन का होता है। दूरदर्शी विवेकशील पुरुष प्रस्तुत संकटों, अवरोधों का अध्ययन बारीकी से करते तथा अपना सन्तुलन बनाये रखते हुए समाधान ढूँढ़ते हैं। फलतः अभीष्ट प्रयोजन में सफल होते हैं। व्यक्ति एवं परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं।

पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की अधिकांश समस्याएँ व्यक्तिगत सूझ-बूझ के अभाव के कारण ही उत्पन्न होती हैं। अपना सन्तुलन बना रहे तो बुरे व्यक्तियों का प्रभाव भी नहीं पड़ सकता। अन्ततः वे भी अनुवर्ती हो जाते हैं। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की इस घटना से प्रेरणा ली जा सकती है—लिंकन की पत्नी उग्र स्वभाव की थी। जिसके कारण लिंकन को कई बार उनके कोप का भाजन बनना पड़ा, पर अपनी सहनशीलता एवं संतुलित मनःस्थिति के कारण कभी ध्यान नहीं देते थे। एक बार लिंकन के सम्मान में एक भोज का आयोजन हुआ जिसमें उनकी पत्नी को भी आमन्त्रित किया गया। भोज के अवसर पर ही पति-पत्नी के बीच किसी बात को लेकर मतभेद खड़ा हो गया। श्रीमती लिंकन इतना अधिक क्रोधित हो उठीं कि काफी का गर्म प्याला लिंकन को दे मारा। कुछ काफी की छींटें श्रीमती लिंकन के ऊपर भी जा पड़ीं। लिंकन ऐसे अवसर में भी मुसकराते रहे और अपनी पत्नी के कृत्य पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उल्टे पत्नी के 'स्कर्ट' पर पड़ी काफी की छींटों को रूमाल निकालकर साफ करने लगे। श्रीमती लिंकन आत्मग्लानि से भर उठीं। उनकी आँखों से पश्चात्ताप के आँसू भर आए। लिंकन सभा में उपस्थित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए बोले—मेरी पत्नी समय-समय पर मुझे सहनशीलता का पाठ पढ़ाती रहती है।

पारिवारिक जीवन के छोटे-मोटे मतभेदों के फलस्वरूप अपना सन्तुलन गँवा बैठने वाले व्यक्ति इस घटना से प्रेरणा ले

सकते हैं। सामान्य बातों को लेकर कितने ही प्रकार के कलह परिवार में आये दिन पैदा होते हैं। उनके मूल में जाने पर पता चलता है कि कारण उतने बड़े नहीं थे जितने कि मान लिये गये। अभाव सामंजस्य एवं स्वयं की सूझ-बूझ का पड़ता है जिनके रहते छोटे मतभेद का भी निवारण नहीं हो पाता। तात्कालिक सूझ-बूझ बनी रहे तो सर्वथा विपरीत, उद्दण्ड एवं उग्र प्रकृति वाले व्यक्तियों के बीच रहते हुए भी प्रसन्नचित्त बने रहना सम्भव है।

सुकरात के जीवन की घटना है। सुकरात की पत्नी भी उग्र एवं तेज स्वभाव की थी। कार्यों की व्यस्तता के कारण सुकरात को घर लौटने में प्रायः देरी हो जाती थी। एक दिन रात गये अपने मित्रों के साथ घर वापस लौटे। उन्हें मित्रों के साथ देखकर पत्नी आग-बबूला हो उठी। इतना अधिक क्रोधित हुई कि गन्दे पानी से भरी बाल्टी को सुकरात के ऊपर फेंक दिया। पत्नी के इस कुकृत्य की ओर उन्होंने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उल्टे मुसकराते हुए बोले कि 'अब तक तो बादल गरजते थे आज बरस भी रहे हैं।' पत्नी का क्रोध उनकी विनम्रता के समक्ष लुप्त हो गया। वह सुकरात से अपने कृत्य पर क्षमा-प्रार्थना करने लगी। उस दिन से उसका स्वभाव परिवर्तित हो गया।

दैनिक जीवन में भी कितने ही अवसर ऐसे आते हैं जिनके कारण मनुष्य अपना सन्तुलन खो बैठता है। आवेशग्रस्त और क्रोधित हो उठता है। फलतः असंतुलन के कारण कितने ही संघर्षों का सामना करना पड़ता है ? जबकि संतुलित ढंग से समाधान ढूँढ़ने से सहज ही बचा जा सकता था। संघर्षों के फलस्वरूप होने वाली हानियों को सूझ-बूझ के प्रयोग द्वारा रोकना इस प्रकार संभव है। घटना प्राचीनकाल की है। यूरोप में द्वन्द्व-युद्ध को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। दो व्यक्तियों के बीच झगड़ा हो जाने पर कोई भी युद्ध की चुनौती दे देता था। जिसके कारण कितने ही व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ता था। ऐसी ही विषम स्थिति एक बार फ्रांस के लुई पाश्चर के

समक्ष आई। फ्रांस के एक व्यक्ति को किसी बात पर लुई पाश्चर के ऊपर क्रोध आ गया। उसने लुई को द्वन्द्व युद्ध के लिए चुनौती दे दी। पाश्चर ने प्रतिद्वन्द्वी से बड़ी बुद्धिमत्ता से कहा—"चुनौती मुझे दी गई है, इसलिए हथियार चुनने का अधिकार मुझे है। मेरे सामने दो बोतलें रखी हैं। एक में साधारण पानी है तथा दूसरी में हैजे के जीवाणुओं का घोल भरा है। एक बोतल मैं पी लेता हूँ। दूसरी बोतल को हमारे प्रतिद्वन्द्वी को पीना चाहिए।" जिस सहजता के साथ बात कही गई उन्हें सुनकर प्रतिद्वन्द्वी का सारा क्रोध समाप्त हो गया। मुसकराते हुए पाश्चर के गले आ मिला।

विकट संकट-भरी परिस्थितियों में भी तात्कालिक सूझ-बूझ के सहारे अपनी सुरक्षा की जा सकती है। वाल्तेयर उन दिनों इंग्लैण्ड में थे। ब्रिटेन और फ्रांस के बीच आपसी सम्बन्ध अच्छे न होने के कारण अंग्रेज फ्रांसीसियों की जान के दुश्मन बने हुए थे। वाल्तेयर एक दिन सड़क से गुजर रहे थे। फ्रांसीसियों को खुली सड़क पर घूमते देखकर अंग्रेजों ने घेर लिया। प्रस्तुत संकट में वाल्तेयर ने भीड़ को सम्बोधित करते हुए ऊँचे स्वर में कहा कि आप लोग इसलिए मारना चाहते हैं क्योंकि मैं फ्रांसीसी हूँ। उग्र भीड़ ने उत्तर दिया—हाँ। वाल्तेयर ने शान्त एवं संतुलित स्वर में कहा कि—आप चाहें जो करें पर मेरी एक बात का उत्तर दीजिए। क्या यही सजा मेरे लिए पर्याप्त नहीं है कि मैं अंग्रेज नहीं हूँ ? भीड़ में उपस्थित आक्रमणकारी भी इस सहजता भरे उत्तर के कारण अपनी हँसी न रोक सके। उन्होंने अपना हिंसक इरादा बदल दिया।

सामान्य से लेकर असामान्य संकटपूर्ण परिस्थितियों का सामना दूरदर्शी सूझ-बूझ के सहारे किया जा सकता है। अपना सन्तुलन बना रहे तो बुरे से बुरे व्यक्ति भी हानि नहीं पहुँचा सकते। व्यक्तियों एवं परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाने की कला जिसने विकसित करली वह जीवन के हर क्षेत्र में सफल रहता है।

● ●

अपनी सहजता कभी न गँवाएँ

जीवन में परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। एक परिस्थिति किसी व्यक्ति के अनुकूल होती है तो वही परिस्थिति दूसरे व्यक्ति के लिए प्रतिकूल भी हो सकती है। कौन-सी परिस्थिति किस व्यक्ति के लिए अनुकूल है और किस व्यक्ति के लिए प्रतिकूल, यह तय कर पाना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति अनुकूल परिस्थितियों में प्रसन्न होता है और प्रतिकूल स्थितियों में उद्विग्न हो उठता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता में उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता अथवा विपन्नता को भावनात्मक संवेग कहा जा सकता है।

कई बार लोग इन परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले भावनात्मक संवेगों को सभ्यता, शिष्टता या लोकलाज के कारण दबा देते हैं। उदाहरण के लिए जब मुक्तकण्ठ से हँसने का मन होता है तो लोग जबरन अपनी हँसी को रोक लेते हैं या जब रुलाई फूटती है तो आँसुओं को जब्त करने की चेष्टा करते हैं। इन भावनात्मक संवेगों को रोकना कई बार अनेक रोगों और मानसिक उलझनों का कारण बन जाता है। यह भी होता है कि किन्हीं मानसिक कारणों अथवा बाहरी दबावों से व्यक्ति अपने भावनात्मक संवेगों को सहज रूप से व्यक्त नहीं कर पाता है। निखरे और सुलझे हुए मन से सभी अभिव्यक्तियाँ सहज और मुक्त रूप से होती हैं। बच्चा इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। उन्मुक्त हास्य और उन्मुक्त रुदन दोनों ही उसमें स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। बड़े हो जाने पर भी भावनात्मक उद्वेलन इसी प्रकार उठते-गिरते हैं जैसे सागर से लहरें चढ़ती-उतरती हैं। इन उद्वेलनों के उतार-चढ़ाव का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। जो परमहंस स्थिति में पहुँच गये हैं, उनकी बात भिन्न है अन्यथा मनुष्य मात्र को इन भावनात्मक उद्वेलनों से गुजरना पड़ता है।

प्रसन्नता और हर्ष की अभिव्यक्ति प्रायः हँसी अथवा मुसकान के रूप में होती है और उदासी तथा क्षोभ की प्रतिक्रिया रुलाई के रूप में फूटती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि जब हँसने का मन हो तो बिना कोई संकोच किये हँस लेना चाहिए और जब भीतर से रुलाई फूट रही हो तो जी भरकर रो लेना चाहिए। इसका कारण बताते हुए वैज्ञानिकों का कहना है कि रोग और शोक दोनों ही मनुष्य मन को अलग-अलग ढंग से उत्तेजित करते हैं। उत्तेजना की प्रतिक्रिया सहज स्वाभाविक नहीं होती, वह मन पर अतिरिक्त दबाव डालती है। उस दबाव से मुक्त होने के लिए ह्रास, उल्लास, उदासी, रुदन आदि प्रतिक्रियाएँ जन्मती हैं। यदि हर्ष, उल्लास या हास्य को जबरन रोककर दबा दिया जाय तो निश्चित रूप से भावनात्मक सन्तुलन गड़बड़ाता है। यही रोने, क्षोभ प्रकट करने और शोक करने के सम्बन्ध में है। मन ही मन घुटते रहने से उदासी अनेक प्रकार की ग्रन्थियों का कारण बनती है और कई अवसरों पर तो प्राण-संकट भी उपस्थित हो जाता है।

घर में अकस्मात किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है तो उस आघात से कई व्यक्ति रोना भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में, जब रुलाई नहीं फूटती तो आस-पास के लोग भरसक चेष्टा करते हैं कि वह रोने लगे क्योंकि उस स्थिति में आघात का तीर इतना गहरा बैठ जाता है कि दूसरे विकार उत्पन्न करके या प्राण हर लेने की क्षमता जी भरकर रो लेने से उत्पन्न होती है। एक तरह रुलाई मरहम का काम करती है जो आघात की पीड़ा को हलका करती है। सामान्य शोक या दुःख के अवसरों पर भी देखा गया है कि रो लेने के बाद चित्त हलका हो जाता है।

इस प्रकार दुःख कातरता मनुष्य स्वभाव का सहज गुण है। दूसरों को दुःखी देखकर भीतर की करुणा व सम्वेदना आन्दोलित होती है। यह हलचल भी आवश्यक है। यदि इस उद्वेलन को दबा दिया जाता है तो मन की कोमल भाव-सम्वेदनाओं को क्षति पहुँचती है। इसी प्रकार प्रसन्नता और हर्षप्रद घटनाओं की प्रतिक्रियाओं को उल्लसित ढंग से व्यक्त कर

देने का परिणाम स्वयं के लिए ही लाभप्रद नहीं होता बल्कि उनकी अभिव्यक्ति निकटवर्ती लोगों में भी सहचरी भाव उत्पन्न करती है। स्वयं का जी तो हलका होता ही है, दूसरों को भी होने का लाभ मिलता है।

कहा जा चुका है कि जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। असंतोष, असफलता, क्षोभ, आघात और सफलता, संतोष, उल्लास आदि जीवन के उज्ज्वल और अन्धकारमय पहलू दिन रात की तरह, सभी के जीवन में आते-जाते रहते हैं। उनका आना-जाना यदि खिलाड़ी भावना से ग्रहण किया जाय तो चित्त के उद्वेलित, आन्दोलित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी प्रशांत मनःस्थिति परिष्कृत व्यक्तित्व का चिन्ह है। अच्छा तो यही है कि सभी परिस्थितियों को खिलाड़ी भावना से स्वीकार किया जाय लेकिन ऐसा न किया जा सके तो उचित है कि हर्ष और शोक को सहज ढंग से व्यक्त कर दिया जाय। मनोभूमि में जब दुःखद घटनाओं की अनगूँज उठ रही हो तो यही उपयुक्त है कि भीतर से उठ रही रुलाई को न रोका जाय, नकली बहादुरी के प्रदर्शन का प्रयत्न मन के भीतर की घुटन को तो हलका करेगा नहीं, मस्तिष्क की क्रियाशीलता को अवश्य क्षति पहुँचाएगा। भारी सदमे के कारण उत्पन्न होने वाले घातक रोग इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। कई बार तो उनके कारण मृत्यु तक होती देखी गई है। यदि उस समय फूट-फूटकर रो लिया गया होता या कि अपना दुःख जी खोलकर किसी आत्मीयजन से विस्तारपूर्वक कह दिया होता तो ऐसी स्थिति कदापि नहीं आती।

उच्च-आदर्शों को अपनाने और उत्कृष्ट विचारों में रमण करने वाले व्यक्तियों के भीतर अपने चारों ओर पीड़ा और पतन की परिस्थितियाँ देखकर क्षोभ, रोष और करुणा का सम्मिश्रण फूट पड़ता है। इन संवेगों को दबाया न जाय तो ये ही व्यक्त होकर श्रेष्ठ कर्मों का आधार बनते हैं। प्रस्तुत परिस्थितियों से जूझने और उन्हें उलट देने का संकल्प उसी भाव-भूमि में उत्पन्न होता है। काव्य, कला, संगीत, साहित्य आदि में निहित मर्मस्पर्शी

करने वाली शक्ति इन्हीं अभिव्यक्तियों से अंकुरित होती है। समाज-निर्माण और लोकमंगल का संकल्प ऐसी अनुभूतियों, अभिव्यक्तियों के द्वारा और अधिक दृढ़ और प्रखर बनता चलता है। यदि इन प्रतिक्रियाओं को, भाव सम्वेदनाओं को दबा दिया जाय तो उच्च आदर्शों को अपनाने वाले व्यक्ति भी व्यक्तिगत संतोष से अधिक कुछ नहीं पा सकते और न समाज को ही कुछ दे पाते हैं।

हास्य और रुदन जैसी प्रवृत्तियों का रासायनिक स्वरूप क्या होता है, यह महत्त्वहीन है। यद्यपि वे एक से नहीं होते। प्रो. स्टुगार्ड ने भिन्न-भिन्न भाव-भूमियों में निकल पड़ने वाले आसुओं का विश्लेषण कर यह बताया है कि इनमें से प्रत्येक प्रकार के आँसुओं में प्रोटीन, शर्करा, लवण और कीटाणुनाशक आदि तत्त्वों का भिन्न-भिन्न अनुपात रहता है। साथ ही कुछ रासायनिक मिश्रण भी पाए जाते हैं। प्रो. स्टुगार्ड ने इस विश्लेषण के आधार पर, लम्बे समय तक परीक्षणों द्वारा अपने शोध प्रयासों से इतने निष्कर्ष प्राप्त कर लिए कि अब अश्रुकणों के विश्लेषण द्वारा ही उनके बहने का कारण जाना जा सकता है। अर्थात् आँसू बहाने वाला व्यक्ति सामने न हो, केवल आँसुओं का विश्लेषण किया जाय और जिस व्यक्ति के वे आँसू हैं, उससे रोने का कारण भी न पूछा जाय तो केवल आँसुओं के विश्लेषण द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है।

स्मरणीय है कि आँसू शोक के समय ही नहीं निकलते, जोर से हँसने पर भी आँखों में आँसू चुहचुहाने लगते हैं। प्रो. स्टुगार्ड के अनुसार आँसुओं के विश्लेषण द्वारा यह भी जाना जा सकता है कि वे खुशी के आँसू हैं या दुःख के। अमेरिका के मनोवैज्ञानिक जेम्स इलियर के अनुसार हास्य और रुदन के भाव संवेगों को रोकने से जुकाम, सिरदर्द, आँखों में जलन, स्मरण शक्ति का ह्रास, पेट के रोग जैसे कई शारीरिक और मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं।

प्रायः देखा गया है कि स्त्रियाँ आँसू बहाने में कंजूसी नहीं करतीं। यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा घुटन का कम शिकार बनती हैं और अधिक स्वस्थ तथा दीर्घजीवी होती हैं।

जबकि पुरुष अपनी कठोर प्रकृति का दण्ड स्वास्थ्य के क्षरण के रूप में भोगते हैं। मनःचिकित्सक वेनार्ड होल्स ने तो कई विक्षिप्त रोगियों को कारुणिक दृश्य दिखा-दिखाकर नियमित रूप से रुलाया। केवल इसी उपचार के द्वारा वे विक्षिप्त रोगी ठीक हो गए।

हास्य और रुदन की तरह भय और क्रोध भी भावनात्मक संवेग हैं। यदि वे संवेग परिस्थितियों के कारण सहज रूप से उत्पन्न होते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है, पर मनुष्य सबसे ज्यादा भयभीत अपने ही दुष्कर्मों से होता है। यदि उस भय का उपचार किया जाय तो न तो दुष्कर्म करते बन पड़ता है और न ही भयजन्य मनोविकारों का शिकार होना पड़ता है। लेकिन दुष्कर्मों में रत रहा जाय तो व्यक्ति आत्म-विनाश और सर्वनाश के गर्त में ही गिरता है। अपराधी कितना ही वीर साहसी क्यों न हो, अपने आप से भय, समाज से भय, राज्य का भय, दण्ड और न्याय व्यवस्था का भय उसे भीरु और कायर बनाता है। अन्ततः भय की यह दलित भावना गहरे मानसिक सन्ताप और जटिल मानसिक रोगों का कारण बनती है। हिटलर युवावस्था में धीर, वीर और साहसी था, पर जब अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह क्रूर कर्मों की ओर प्रवृत्त हुआ तो उसका अपना ही भूत, भयजन्य मानसिक संताप उसे खाने लगा और खाता ही गया। इसी मनस्ताप के कारण अन्तिम दिनों में उसे एक प्रकार का लकवा मार गया और उसे अपने विश्वासों पर भी सन्देह होने लगा। यह मनस्ताप आखिर उसे आत्महत्या के कगार पर पहुँचाकर ही रहा। यदि अपनी आत्मा के साथ न्याय किया जाय, अन्तरात्मा की आवाज को सुना जाय और उसके अनुसार चलने का प्रयास किया जाय तो अपने आप के भय से होने वाला मनस्ताप नहीं सताता और न ही विक्षोभ की आग में जलना-गलना पड़ता है।

इतने पर भी अनजाने में यदि कोई दुष्कर्म बन जाय तो उसके कारण होने वाले मानसिक संताप को पश्चात्ताप प्रक्रिया एवं आत्मस्वीकृति द्वारा दूर किया जा सकता है। भारतीय मनीषी आचार्यों ने इसी उद्देश्य से प्रायश्चित विधान किया था ताकि

अनजाने हुए दुष्कर्मों के दुष्परिणामों से बचा जा सके। जान-बूझकर पाप-कर्मों में लिप्त रहते हुए भी सद्‌बुद्धि जागृत होने पर भी प्रायश्चित प्रक्रिया अपनाकर पाप-कर्मों का प्रक्षालन किया जा सकता है।

पाप-कर्मों का दुष्परिणाम दण्ड के रूप में भुगतना पड़ता है यह निश्चित है, पर यह आवश्यक नहीं है कि सामान्य जीवनक्रम में आने वाले उतार-चढ़ावों का कारण भी पाप ही हो। मन की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को छिपाने की प्रवृत्ति, मानसिक भाव-उद्वेलनों की सहजता से व्यक्त न करने की आदत, असह्य, नकली और कृत्रिम गम्भीरता आदि बातें मन में उन ग्रन्थियों को जन्म देती हैं, जो विकृतियों की ओर अग्रसर करती हैं। सहज सरल जीवन में इस प्रकार की ग्रन्थियाँ नहीं दीख पड़ती हैं। बोझिल और उलझा हुआ मन ही अनैतिक जीवन की ओर प्रवृत्त करता है। मन में ऐसा बोझ न लदने देने के लिए भावनात्मक उद्वेलनों को दबाना भी पड़ेगा।

समुद्र में ज्वार-भाटे की तरह ही हमारे चित्त के तल पर भी परिस्थितियों के घात-प्रतिघात, हर्ष-विषाद, उल्लास और शोक के उतार-चढ़ावों को उठाते-गिराते रहते हैं। इन भावों को सहज और मुक्त रूप से व्यक्त होने देना चाहिए तथा स्वयं बालकोचित सरलता बनाये रहना चाहिए। अधिक उत्कृष्ट स्थिति तो यही है कि हर्ष और शोक में से कोई भी प्रवृत्ति मन का सन्तुलन बिगाड़ ही न पाए। गीता में इसी मनःस्थिति के व्यक्तियों को स्थितिप्रज्ञ, गुणातीत, ज्ञानी, योगी और अनासक्त पुरुष कहा है। वह स्थिति लम्बे अभ्यासों और आध्यात्मिक साधनाओं से प्राप्त होती है। उसके लिए प्रयास किया जाय यह अच्छा ही है, पर यह स्थिति एक दिन में नहीं बनती। जब भीतर वैसी उत्कृष्ट मनःस्थिति न हो तब ऊपर से भावावेगों को दबाकर शान्ति बनाये रखना हानिकारक ही सिद्ध होगा। इसलिए कहा गया है कि मुक्त कण्ठ से हँसना और जी भरकर रोना शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक ही है।

● ●

छोटी बातों की भी उपेक्षा न की जाय

तब द्वितीय महायुद्ध का दौर चल रहा था। सन् १९४४ में अंग्रेजी सरकार का एक प्रथम श्रेणी का फोर्ट स्टिकिन नामक जलपोत बर्कर हैड बन्दरगाह से भारत के लिए रवाना हुआ। उसमें भारतीय बैंकों में रखे जाने के लिए करोड़ों का सोना तथा सुरक्षा विभाग की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए प्रचुर मात्रा में गोला-बारूद भरा हुआ था। कप्तान एलेक्जेण्डर जेम्स नाइस उसके संचालक थे। उन्हें अंग्रेज सरकार ने यह गुप्त रहस्य बता दिया था और चेतावनी दे दी गई कि पूरी सावधानी बरतें ताकि कोई दुर्घटना न घटित होने पाये।

महायुद्ध में शत्रु देश के जलपोतों को डुबोने की ताक में विपक्षी लगे रहते थे। जर्मनी के चार बमवर्षक जहाजों ने स्टिकिन जलपोत को घेर लिया। डुबाने के प्रयास में वे ऊपर से जहाज पर गोले बरसाते रहे, पर कप्तान की सूझ-बूझ और सुरक्षात्मक मुस्तैदी के कारण जलपोत को किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं पहुँची। अन्ततः वायुयानों को भागना पड़ा। कप्तान एवं नाविकों ने खतरा टला, यह सोचकर चैन की साँस ली। जहाज १२ अप्रैल को बम्बई पहुँचा तथा विक्टोरिया डॉक पर खड़ा हुआ। माल उतारने के लिए कुशल पोर्ट अधिकारी बुलाये गये और सामान धीरे-धीरे उतारा जाने लगा।

सामान्यतः बड़े संकटों एवं बड़ी व्यवस्थाओं की ओर सबका ध्यान जाता है, पर छोटी-छोटी बात की उपेक्षा कर दी जाती है जो अन्ततः गम्भीर संकटों का कारण बनती है। यहाँ भी यही हुआ। जो बन्दूकधारी सिपाही सुरक्षा के लिए नियुक्त थे उनमें से कोई बीड़ी पीने का आदी था। उसने रात्रि के समय बीड़ी पी और बचा हुआ आधा जला टुकड़ा उधर ही कहीं फेंक दिया। आग धीरे-धीरे सुलगती रही तथा सवेरा होते ही रुई और तेल के गोदामों तक पहुँच गयी। आग एवं धुएँ की लपटें जब

ऊँची उठने लगीं तब पोर्ट के अधिकारियों का ध्यान उधर आकर्षित हुआ तब तक अग्नि ने दावानल का स्वरूप ग्रहण कर लिया। घबराये हुए अधिकारियों ने फायर ब्रिगेड को बुलाया। दर्जनों दमकलें आग बुझाने लग गयीं, पर उस पर नियन्त्रण पा सकना सम्भव न हो सका।

स्थिति विस्फोटक होती जानकर अधिकारियों ने अन्तिम क्षणों में यह निर्णय लिया कि जहाज के पेंदे में छेद करके उसे डुबा दिया जाय। कारण यह था कि जहाज पर भरा हुआ गोला-बारूद आग पकड़ने से अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता था। खतरे का भौंपू बजे इसके पूर्व कि जहाज को डुबाने के लिए पेंदे में छेद किया जाता, आग की लपटों ने जहाज को अपनी चपेट में ले लिया। जहाज पर काम करने वाले भागने लगे, पर तब तक वज्रपात की घड़ी आ पहुँची। भयंकर विस्फोटों का सिलसिला आरम्भ हुआ। एक के बाद एक जमीन को हिला देने वाले धड़ाके होने लगे। आग जब अपने आप बुझी, उस समय तक सर्वनाश हो चुका था। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इन विस्फोटों के कारण लगभग डेढ़ हजार व्यक्ति मारे गये तथा घायलों से बम्बई के कितने ही अस्पताल भर गये। स्वर्ण-राशि, अस्त्र-शस्त्र तथा दूसरे कितने ही बहुमूल्य सामान नष्ट हुए, इसका सही विवरण प्राप्त नहीं हो सका पर ऐसा अनुमान किया गया कि अरबों रुपयों की सम्पत्ति विस्फोट में जलकर स्वाहा हो गयी। यह सारी करामात एक छोटी-सी बीड़ी के टुकड़े की थी जिसे लापरवाहीवश जहाँ-तहाँ फेंक दिया गया था।

लापरवाही तथा अस्त-व्यस्तता की एक और घटना प्रसंगवश उल्लेखनीय है जो अन्ततः भयंकर नर-संहार का कारण बनी। तब जमींदारों, नवाबों का युग था। एक सामन्त प्रातःकाल शहद खा रहा था। असावधानीवश शहद पात्र से खाते समय नीचे जमीन पर फैल गया। उसने इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया और सफाई की उपेक्षा करके किसी अन्य काम में लग गया। थोड़ी देर बाद वहाँ एक बिल्ली पहुँची और शहद जमीन से चाटने लगी। इतने में एक कुत्ता आ धमका। वह बिल्ली पर

झपटा। बिल्ली के बचाव के लिए सामन्त के नौकर ने कुत्ते को पीटा। संयोग से कुत्ता विरोधी पक्ष के एक दूसरे सामन्त का था। कुत्ते को ढूँढ़ते हुए उक्त सामन्त का नौकर उधर से ही गुजर रहा था, जिस समय प्रतिपक्षी का नौकर उसे डंडे से मार रहा था, महल के भीतर पहुँचकर उसने कुत्ते को मरा देखा। तुरन्त जाकर उसने इस घटना की सूचना अपने मालिक को दी। प्रतिपक्षी ने इस घटना को अपना अपमान माना तथा दूसरे सामन्त को शक्ति आजमाने की चुनौती दी।

देखते ही देखते दो संगठित गुटों के बीच भयंकर संघर्ष छिड़ गया। तलवार और तोप चलने लगीं। हजारों व्यक्ति दोनों ही पक्षों के इस युद्ध में मारे गये। कुछ विचारशील व्यक्तियों ने घटना का वास्तविक कारण मालूम करने की कोशिश की तो पता चला कि भयंकर संघर्ष में हुए नर-संहारों का कारण बर्तन से टपका हुआ वह शहद था जो सामन्त की असावधानी से भूमि पर गिर गया था। संयोग से उसी के कारण ऐसी परिस्थितियाँ बनती गयीं जिनने युद्ध को जन्म दिया।

दैनन्दिन जीवन की घटने वाली छोटी-बड़ी अधिकांश घटनाओं के मूल में असावधानी, लापरवाही की ही प्रधान भूमिका होती है। जिन बातों को छोटा जानकर अवहेलना कर दी जाती है, प्रायः वे ही संकटों का कारण बन जाती हैं। अस्त-व्यस्तता को मनीषियों ने एक ऐसा अभिशाप माना है जिसके कारण पग-पग पर संकटों का सामना करना पड़ता है। मनुष्य कितना विद्वान, प्रतिभावान अथवा योग्य है, महत्त्व इस बात का उतना नहीं है जितना कि इस बात का कि उसके अन्दर कितनी अधिक व्यवस्था बुद्धि है। व्यवस्था बुद्धि से तात्पर्य ऐसी व्यावहारिक बुद्धि से है जिसका अवलम्बन लेने वाला समय एवं साधनों का नियोजन भली-भाँति तो करता ही है, इन छोटी-छोटी बातों के प्रति भी पूरी तरह से सतर्क और जागरूक होता है जो किसी भी काम को परिपूर्ण और निरापद संकटों से रहित बनाने के लिए जिम्मेदार होती हैं। कितने ही सुशिक्षितों एवं योग्य व्यक्तियों में भी व्यक्तित्व को अलंकृत करने वाली इस विशेषता का

अभाव देखा जाता है जबकि कितने ही अशिक्षित अथवा कम पढ़े व्यक्ति भी सतर्कता, सजगता एवं जागरूकता की विशेषताओं से सुसम्पन्न पाये जाते हैं। सामाजिक जीवन में होने वाली अनेकानेक प्रकार की दुर्घटनाओं में से अधिकांश में प्रायः सजगता की कमी ही कारण बनती है। आये दिन अग्निकाण्ड की दुर्घटनाएँ समाचारपत्रों में प्रकाशित होती हैं। उनके वास्तविक कारणों की बारीकी से खोजबीन की जाय तो यही पता चलेगा कि यदि थोड़ी भी सतर्कता, जागरूकता बरती गयी होती तो उन दुर्घटनाओं को आसानी से टाला जा सकता था।

दिल्ली की कुतुबमीनार में सैकड़ों व्यक्ति एक के ऊपर एक गिरने से दबकर मर गये तथा सैकड़ों घायल हुए. कारण था अकस्मात् विद्युत का गुल हो जाना। हड़बड़ी में सभी भागने लगे और मार्ग संकीर्ण होने के कारण एक-दूसरे के ऊपर गिरते गये। मरने वालों में मासूम बच्चों सहित कुल संख्या लगभग पचास थी। किसी की कल्पना भी नहीं थी कि थोड़ी-सी हड़बड़ी और सतर्कता का अभाव इतने बड़े काण्ड में परिवर्तित हो जायेगा।

श्री राम झोला पुस्तकालय

पूज्य गुरुदेव के विचारों को साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के लिए एक नवीन एवं सफल योजना 'श्रीराम झोला पुस्तकालय' प्रारम्भ की गयी है। आप से अनुरोध है कि आप १३० रु० भेजकर १०० पाकेट बुक्स अलग-अलग मंगा लें। इनके ८-८ पुस्तकों के १२ सैट बना लें। प्रत्येक सैट में अलग-अलग विषयों की पुस्तकें रखें। अब १२ रुपये लेकर ८ पुस्तकों का एक सैट देकर सदस्य बनाएँ। सदस्यता फार्म फोल्डर में छपा है इसे हाथ से कार्बन कापी कर लें अथवा छपवा लें। फार्म भरवाकर अपने पास रिकार्ड हेतु रखें। प्रत्येक माह सैट बारह सदस्यों के बीच बदलते रहें। इस प्रकार आप १२ रुपये लेकर वर्ष में १४४ रुपये की पुस्तकें पढा सकेंगे। चाहें तो वर्ष के अंत में एक-एक सैट सबको उपहार स्वरूप दे दें। पुस्तकों के पैसे आपको पहले मिल ही गये हैं। कोई सदस्य पुस्तक को खरीदना चाहें तो १.५० रुपये लेकर दे दें। लेकिन उस पुस्तक के स्थान पर दूसरी पुस्तक सैट में लगाने हेतु अपने पास रखें। इस योजना में आपको प्रारंभ में कुछ धन लगाना तो पड़ेगा लेकिन सब वापस आता रहेगा और आपका कुछ भी खर्च नहीं होगा। अधिक सदस्य बनाने के अधिक पुस्तकें उसी अनुपात में मंगा लें और ८-८ पुस्तकों के सैट बनाकर १२ रुपये लेकर देते रहें तथा प्रतिमाह नवीन सैट से बदलते रहें। कार्य में कोई समस्या आये तो पत्र व्यवहार द्वारा समाधान करते रहें। आवश्यकतानुसार पत्र डालकर योजना के फोल्डर निःशुल्क मंगा लें।